ओ३म्

आर्य जगत्

कृण्वन्तो विश्वमार्यम्

रविवार, 19 जुलाई 2015

आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा का साप्ताहिक पत्र

सप्ताह रविवार 19 जुलाई 2015 से 25 जुलाई 2015

आ.शु. 03 ● वि० सं०–2072 ● वर्ष 58, अंक 29, प्रत्येक मगंलवार को प्रकाश्य, दयानन्दाब्द 192 ● सृष्टि–संवत् 1,96,08,53,116 ● पृ.सं. 1–12 ● इस अंक का मूल्य – 2.00 रुपये

डी.ए.वी. पटियाला ने बडे उत्साह से मनाया अन्तर्राष्ट्रीय योग दिवस

डी.ए.वी. पब्लिक स्कूल भूपिन्द्रा रोड़ पटियाला की इकाई 'आर्य युवा समाज' द्वारा 'अन्तर्राष्ट्रीय योग दिवस' के उपलक्ष्य में 'सप्त दिवसीय योग शिविर' लगाया गया। वैदिक संस्कृति के प्रचार–प्रसार के लिए कृत संकल्प होने का परिचय देते हुए शिविर का उद्देश्य जीवन को सुखमय बनाने के लिए वैदिक संस्कृति में वर्णित वैज्ञानिक पद्धति यज्ञ व योग का अभ्यास करवाना रहा। शिविर का शुभारम्भ वैदिक मंत्रोच्चारण के साथ हवन से हुआ जिसमें प्राचार्य एस.आर. प्रभाकर की अध्यक्षता एवम् श्री बिजेन्द्र शास्त्री के मार्गदर्शन में स्कूल के शिक्षकवृन्द को प्रतिदिन प्राणायाम–'कपालभाति', 'अनुलोम–विलोम' 'भ्रामरी', 'उद्गीथ'

तथा विभिन्न आसनों की क्रियाओं 'सूर्य नमस्कार', 'भुजंगासन', 'मकरासन', 'हास्यासन', 'ताड़ासन', 'वृक्षासन, 'त्रिकोणसन' व शवासन' आदि का अभ्यास करवाया गया।

इस अवसर पर बोलते हुए प्राचार्य प्रभाकर ने कहा, ''प्राचीन काल में भारत अपनी आध्यात्मिक व योग शक्ति के कारण ही 'जगत् गुरु' रहा है। योग से प्रकृति का सान्निध्य प्राप्त होता है: जो आत्मतत्त्व को परमात्मतत्त्व से मिलाता है। इससे शरीर स्वस्थ रहता है और स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मन निवास कर सकता है। योग प्रत्येक शरीरधारी जीव व प्राणी के लिए अनिवार्य है''

योग शिविर के समापन पर वैदिक मन्त्रोच्चारण के साथ हवन किया गया। प्राचार्य प्रभाकर ने मनुष्य जीवन को कर्म प्रधान बताते हुए सत्कार करने का संदेश दिया यह शिविर शिक्षकवृन्द को योगाभ्यास करवाने के लिए श्री बिजेन्द्र शास्त्री का धन्यवाद प्रकट किया गया। शिविर को सफल बनाने के लिए 'आर्य युवा समाज' के सदस्यों को स्मृति चिह्न व प्रमाण पत्र देकर उनके सहयोग की सराहना की गई। इस अवसर पर स्टेट बैंक ऑफ पटियाला के डी.जी.एम., श्री गुरदीप व योग शिक्षिक श्रीमती सत्या कौशल, श्रीमती सरोज प्रभाकर विशेष रूप से उपस्थित रहे। सभी योग साधकों को 'अन्तर्राष्ट्रीय योग दिवस' के सटिकर व बैज् बाँटे गए।

शान्ति पाठ के साथ योग शिविर सम्पन्न हुआ।

डी.ए.वी. पुलिस पब्लिक स्कूल, सूनारियाँ में लगा योग शिविर

पुलिस डी.ए.वी पब्लिक स्कूल सुनारियाँ (रोहतक) में योग शिविर का आयोजन किया गया। योग इस विद्यालय की एक दैनिक क्रिया है जो विद्यार्थियों द्वारा नियमित रूप से कि जाती है। माननीय प्राचार्या महोदया जी के आह्वान पर अन्तर्राष्ट्रीय योग दिवस के दिन (21 जून 2015) विद्यालय परिसर में सभी अध्यापकगण, विद्यालय के सभी कर्मचारी व अभिभावकों और विद्यार्थियों द्वारा विद्यालय में योगाभ्यास कर इस योग दिवस को सफल बनाया गया।

कार्यक्रम की शुरूआत, गायत्री मंत्र व यजुर्वेद के मंत्र **'ओ३म् विश्वानि देव'** से प्रारम्भ की गई। इस दिन को यादगार बनाने के लिए आचार्य रामदेव जी द्वारा तैयार किये गए 35 मिनट के पैकेज के द्वारा सभी को योग का अभ्यास करवाया गया तथा भजन करवाए गया।

तेज हवाओं व बूदा–बांदी के चलते हुए भी सभी के द्वारा भजनों का आनन्द लिया गया। अन्त में शांति पाठ करके व प्रसाद देकर सभी अभिभावकों का इस योग शिविर में भाग लेने पर हार्दिक धन्यवाद किया।

आदर्श जीवन निर्माण शिविर सम्पन्न

आर्य वीर दल मुम्बई के सचांलक श्री नरेन्द्र द्वारा प्राप्त पत्र के अनुसार आर्य प्रतिनिधि सभा मुम्बई के तत्वाधान में आर्य वीर दल मुम्बई द्वारा आर्य समाज मुलुण्ड कालोनी, मुम्बई में आर्य वीरांगना चरित्र निर्माण शिविर का आयोजन किया गया जिसमें 50 आर्य वीरों ने भाग लिया। शिविर में शारीरिक पाठ्यक्रम का संचालन किया गया। प्रातः से रात्रि 10 बजे तक चलने वाली दिनचर्या में इन आर्य वीरों को आसन–प्राणायाम, कुंग–फू, कराटे, सर्वांगसुन्दर व्यायाम, सूर्य नमस्कार आदि के व्यायाम तथा विभिन्न खेल खिलाए गए। ईश्वर–जीव–प्रकृति, वेद, सृष्टि रचना, पंचमहायज्ञ, 16 संस्कार, वैदिक वर्णाश्रम व्यवस्था की जानकारी सरल ढंग से दी गई।

स्वजातीय या विजातीय ईश्वर अथवा अपने आत्मा में तत्त्वान्तर वस्तुओं से रहित एक होने से वह 'अद्वैत' है। – स. प्र. समु. ९

संपादक – पूनम सूरी

ओ३म्
आर्य जगत्
सप्ताह रविवार 19 जुलाई, 2015 से 25 जुलाई, 2015

दम्पती का कर्तव्य

● डॉ. रामनाथ वेदालंकार

प्राचीं प्राचीं प्रदिशमारभेथाम्, एतं लोकं श्रद्दधानाः सचन्ते।
यद् वां पक्वं परिविष्टमग्नौ, तस्य गुप्तये दंपती संश्रयेथाम्।।
अथर्व 12.3.7

ऋषिः यमः। देवता स्वर्गः, ओदनः, अग्निः। छन्दः विष्टुप्।

● (**दंपती**) हे पति–पत्नी! [तुम दोनों] (**प्राचीं प्राचीं प्रदिशं**) अगली–अगली प्रकृष्ट दिशा को (**आरभेथां**) ग्रहण करो। (**एतं लोकं**) इस गृहस्थ आश्रम को (**श्रद्–दधानाः**) श्रद्धावान् लोग (**सचन्ते**) प्राप्त करते हैं। (**वां**) तुम दोनों की (**यत्**) जो [वस्तु] (**अग्नौ**) अग्नि में (**परिविष्टं**) डाली जाकर (**पक्वं**) परिपक्व हो गई है (**तस्य**) उसके (**गुप्तये**) रक्षण के लिए (**संश्रयेथाम्**) एक–दूसरे का आश्रय लो।

● हे वर–वधू! तुम परस्पर विवाह–सूत्र में परिणद्ध हुए हो। पर क्या तुम गृहस्थाश्रम का उत्तरदयित्व और कर्तव्य भी जानते हो? यह आश्रम श्रद्धावानों का आश्रम है, पति और पत्नी की आपस में एक–दूसरे के प्रति श्रद्धा और दोनों की मिलकर भगवान् में श्रद्धा जब होती है तब इस आश्रम का प्रसाद फलीभूत होता है। श्रद्धा में समर्पण का भाव जुड़ा हुआ है। पति–पत्नी एक–दूसरे को आत्म–समर्पण करते हैं और दोनों मिलकर परम प्रभु को आत्म–समर्पण करते हैं। श्रद्धा और समर्पण कितने पवित्र शब्द हैं! गृहस्थ दम्पती यदि इन शब्दों का मर्म समझकर आचरण करें, तो उनका गृहस्थाश्रम सौरभ बखेरने लगता है।

हे दम्पती! तुम दोनों आगे–आगे की प्रकृष्ट दिशा की ओर बढ़ते चले जाओ। तुम ब्रह्मचर्याश्रम की साधना कर चुके हो। इस बात को मत भूलो कि यह गृहस्थाश्रम भी साधना का ही आश्रम है। साधना करनेवाले ही आगे बढ़ते हैं और वस्तुतः आगे पग बढ़ाना भी एक साधना ही है। निरुद्देश्य विलासमय गृहस्थ जीवन साधना–हीनों का होता है। यदि तुम गृहाश्रम में विलास और साधना को एकाकार कर सकोगे, तो निश्चय ही तुम्हारा गृहाश्रम विकास का सोपान बन सकेगा।

गृहस्थाश्रम में पति–पत्नी अग्नि प्रज्वलित करते हैं, आहिताग्नि बनते हैं। अपना सब–कुछ उन्हें उस अग्नि में परिपक्व करना होता है। अपना तन, अपना मन, अपना धन, अपना आत्मा, अपने कार्य, सबको परिपक्व करना होता है। जो परिपक्व हो गया है, उसकी सुरक्षा करनी है और जो परिपक्व नहीं हुआ है उसे परिपक्व करनें में तीव्रता से तत्पर होना है। यह परिपक्वता ही गृहस्थाश्रम की देन है। पर यह परिपक्वता भी अकेले–अकेले नहीं होती, पति–पत्नी मिलकर ही परिपक्वता सम्पादित करते हैं और मिलकर ही परिपक्व की रक्षा करने में समर्थ होते हैं।

हे गृहस्थ–जनो! स्मरण रखो, गृहस्थाश्रम श्रद्धा का, आगे–आगे बढ़ने का और परिपक्व होने का आश्रम है। अतः इस आश्रम की नींव में और इस आश्रम पर बने भवन में इन तीनों को सदा सिंचित करते रहो। तुम्हारा मंगल होगा।

❑

वेद मंजरी से

इस अंक में प्रकाशित सभी लेखों में व्यक्त भावों व विचारों के लिए लेखक स्वयं उत्तरदायी हैं और इसमें किसी आपत्तिजनक बात के लिए 'सम्पादक' एवं 'आर्य जगत्' उत्तरदायी नहीं होगा।

महामन्त्र

● महात्मा आनन्द स्वामी

पिछले अंक में बात हो रही थी दुःखों के तीन विभागो कि आध्यात्मिक और आधिभौतिक और आधिदैविक। इन दुःखों को दूर करने के लिए परमात्मा की महती शक्ति सविता को पुकारते हुए साधक सविता शक्ति को अपने अन्दर भी धारण करता है ताकि वह परमात्मा के इस गुण को किसी अंश में अपने में लाकर इससे कार्य भी ले सके।

परमात्मा की प्रेरणा करने वाली सविता शक्ति ने केवल आदिसृष्टि ही में कार्य नहीं किया, यह शक्ति अब भी निरन्तर कार्य करने में लगी है और मानव हृदय में विराजमान सविता शक्ति अच्छे कार्यों के लिए उत्साह प्रसन्नता और आनन्द बढ़ाती है और बुरे कार्य करने वालों में शका, लज्जा, शोक उत्पन्न करती है।

अब आगे....

सविता–शक्ति द्वारा मानवी पुरुषार्थ–

मानव ने आदिसृष्टि ही से सविता–शक्ति द्वारा कार्य लिया, तभी भूमि के सारे स्थलों में वेद–विचार फैला। यदि आर्य ऋषि–मुनि और ब्राह्मण दूसरों को प्रेरणा न करते तो वैदिक धर्म का प्रचार कैसे होता?

आज से लगभग छह हजार वर्ष पूर्व आर्यो का सार्वभौम चक्रवर्ती राज्य था। 'सत्यार्थप्रकाश', दशम तथा एकादश समुल्लास अब भी कितने ही देशों में इसके चिह्न पाये जाते हैं। परन्तु जब से आर्यो ने सविता–शक्ति से कार्य लेना छोड़ा है, तब से यह सार्वभौम राज्य भी नष्ट हो गया है।

जिस प्रकार परमात्मा अपनी सविता–शक्ति द्वारा सुप्त प्रकृति को प्रेरणा करके सृष्टि को रच देता है, इसी प्रकार परमात्मा को 'सविता' नाम से पुकारनेवाले साधक का भी कर्तव्य हो जाता है कि वह दूसरे को प्रेरणा करके उसके अज्ञान की निद्रा को दूर करे, और सारी जनता को ईश्वर–भक्त, वेद–भक्त तथा जनता–जनार्दन का सेवक बनाने का यत्न करे। जब तक इस सविता–शक्ति द्वारा वेद–विचार का प्रसार तथा प्रचार होता रहा, तब तक सर्वत्र वैदिक विचार के अनुसार व्यवहार होता था, मानव का लोक सुधरता था और लौकिक वैभव के सारे पदार्थ सब व्यक्तियों को प्राप्त होते थे। परन्तु मानव इस सविता–शक्ति से परे हट गया। प्रेरणा–प्रचार की भावना जाती रही और धीरे–धीरे सार्वभौम चक्रवर्ती राज्य का सुप्रबन्ध विनष्ट हो गया। अब भी आर्य लोग यदि दूसरों को प्रेरणा करने का निश्चय कर ले तो इस सविता (प्रेरणा) में इतना बल है कि एक बार पुनः उसी सार्वभौम राज्य के स्वामी बन सकते हैं।

उपासक–साधक जब गायत्री–मन्त्र का जप करने को उद्यत हुआ है, तो उसे इस जगज्जननी जगदम्बा के निकट पहुँचने के लिए अपने–आपको कुछ तो योग्य बनाना ही होगा और अपने पुरुषार्थ के साथ परमात्मा से भी यह याचना करनी होगी कि हे सविता देव! आप ही सब प्राणियों की रक्षा करने वाले हैं। प्रभो, तूने अपनी नन्ही–सी प्रेरणा से इतना महान् विशाल संसार रच दिया, तो क्या मेरी बुद्धि को प्रेरणा करने में आपको कोई श्रम करना पड़ेगा? नहीं मेरी माँ, नहीं! आपकी कृपा का एक कटाक्ष, आपकी एक ही दया–दृष्टि मेरा जीवन सुधार देगी। करो प्रेरणा ऐसी कि मेरे सारे कर्म मुझे तेरी ही ओर ले–जाने वाले हों।

वरेण्यम् –

वरने योग्य जो परमात्मा है उसे 'वरेण्यम्' कहा गया है। यदि किसी का वर्णन करना है, किसी का कीर्तन करना है, किसी का गुण–गान करना है, किसी को वरना है, किसी के आगे भेंट चढ़ानी है तो वह केवल परमात्मा ही है, वही प्रार्थनीय है। जन्म, मृत्यु, दुःखादि के नाश–निमित्त ध्यानपूर्वक उपासना करने योग्य यही सविता–देव हैं। यही परमात्मा आश्रय लेने योग्य है। यही है परमेश्वर देव जिसके सामने अपनी आत्मा की बलि–भेंट चढ़ानी है।

भगवान् दयानन्द ने वरेण्यम् के अर्थ ये लिखे हैं– **यद्वरं वर्तुमर्हमतिश्रेष्ठं तद्वरेण्यम्**–जो ग्रहण करने योग्य अत्यन्त श्रेष्ठ है, वह वरेण्यम् है।

वरेण्यम् का अर्थ सेवा करने योग्य भी है। सेवा का प्रयोजन यही है कि मैं जिसका सेवक हूँ, उसकी आज्ञा का पूरा पालन करूँ। वरेण्यम् कहकर जब साधक ने अपने–आपको सविता–देव परमात्मा के आगे भेंट चढ़ा दिया, आत्म–समर्पण कर दिया तो अब आगे कुछ कहने–सुनने की आवश्यकता रहती नहीं। और वरेण्यम् शब्द के उच्चारण करने से भी यह स्पष्ट होता है कि वरेण्यम् कहते ही ओष्ठ बन्द हो जाते हैं अर्थात् अब बोलने का काम नहीं रहा।

अब तो उसी की आज्ञा–पालन में तन–मन लगेगा। जो कुछ पाया है यह है भी तो उसी का, और माँगा भी उसी से है। महर्षि दयानन्द ने 'ऋग्वेदादिभाष्य–भूमिका में लिखा है –

''सबसे उत्तम मोक्ष–सुख से लेके अन्न–जलपर्यन्त सब पदार्थों की याचना मनुष्यों को केवल ईश्वर ही से करनी चाहिए।''

और फिर जो कुछ पाया है, वह सब ईश्वर ही के अर्पण कर देना है। महर्षि इसी प्रसंग में 'आयुर्यज्ञेन तथा कल्पताम्' 'यज्ञो यज्ञेन कल्पताम्' मन्त्र की व्याख्या में लिखते हैं –

''उसी परमेश्वर के अर्थ सब चीजें समर्पण कर देनी चाहिएँ...। सब मनुष्य अपनी आयु को ईश्वर की सेवा और आज्ञा–पालन में समर्पित करें; अर्थात् अपना प्राण भी ईश्वर के अर्थ अर्पण कर देवें।''

इससे आगे चक्षु, श्रोत, वाणी, मन, आत्मा, चारों वेदों के पढ़ने का पुरुषार्थ, ज्योति, सारा सुख, उत्तम कर्मों का फल, तीनों प्रकार के यज्ञ, इन सबकी गणना कर लिखा है कि ''ये सब ईश्वर की प्रसन्नता के अर्थ समर्पित कर देना आवश्यक है।''

वरेण्यम् की भावना तो तभी पूर्ण होगी जब अपना सर्वस्व प्रभु–अर्पण करके उसी की आज्ञा–पालन में साधक तत्पर हो जाएगा। इसी का नाम ईश्वर–प्रणिधान है, इसी को शरणागति कहते हैं, और यही अनन्य भक्ति है।

भर्गः–

यह शब्द भी बड़े महत्व का है और साधक को बड़ा सन्तोष देनेवाला है, क्योंकि इस शब्द के अर्थ जहाँ 'शुद्ध, अनेकविध ऐश्वर्य के हैं, वहाँ पापों को भून देनेवाले, दहन करनेवाले और आनन्द देनेवाले के भी हैं।'

'भर्गः' परमात्मा का एक ऐसा गुण है जो परमात्मा के अतिरिक्त और किसी का गुण नहीं। यही गुण केवल ओउम् परमात्मा ही की सम्पत्ति है। पापों का नाश करना है और आनन्द पाना है तो प्रभु ही की शरण में जाना होगा।

''यस्यच्छायाऽमृतं''। यजु. 25।13।।

–उसी का आश्रय लेने वाले अमृत होते हैं, आनन्द पाते हैं। आनन्द वही प्राप्त करेगा जिसके पाप–दोष दग्ध हो गये हैं।

"यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः"।

मुण्डक 3।1।5।।

– जिसको वे यति जानते हैं जिनके दोष क्षीण हो गये हैं। दोष जहाँ सत्य, तप, सम्यक् ज्ञान तथा ब्रह्मचर्य से दूर होते हैं, वहाँ इनके साथ प्रभु–कृपा का होना भी आवश्यक है, और चूंकि वह भर्गवाला है, पापों के दहन करने की शक्ति एकमात्र उसी के पास है, इसलिए उसी प्रभु की कृपा के पात्र बनना होगा। संसार में जितनी भी मुख्य वस्तुएँ हैं, उन सबमें जो वस्तु शिरोमणि है, वह भर्ग कहलाती है।

भञ्ज् धातु आमर्दन अर्थ में और भुज् धातु भर्जन अर्थ में है। इन दोनों धातुओं से भजन करनेवालों [भक्ति केवल नाम–जपन का नाम नहीं। भक्ति का प्रयोजन है– नम्रता तथा तत्परता से प्रभु की आज्ञा का पालन], भक्ति करने वालों के पापों के भर्जन का कारण होने से भर्ग नाम होता है। भर्ग तेज को भी कहते हैं। अविद्या के दोषों का नाश करनेवाला, ज्ञानस्वरूप, आनन्दस्वरूप, भर्ग–शक्तिवाला परमात्मा ही है।

'निरुक्त' में बतलाया है –

''भर्गस्तेजः प्रकाशः प्रकाशोत्तानम्, यन्निरुपद्रवं निष्पापं निर्गुणं शुद्धं सकलदोषरहितं पक्वं परमार्थविज्ञानस्वरूपं तद् भर्गः।''

– भर्ग तेज है, प्रकाश है और प्रकाश ज्ञान–रूप है; जो उपद्रव–रहित, निर्गुण, शुद्ध, सकल दोष–रहित, परिपक्व, परमार्थ–विज्ञानस्वरूप है, वही भर्ग है।

'गोपाथ ब्राह्मण' में भर्ग के सम्बन्ध में लिखा है –

''गायत्र्येव भर्गः तेजो वै गायत्री।''

– निश्चय करके गायत्री ही भर्ग है तथा तेज ही गायत्री है।

'मैत्र्युपनिषद् (617) में भर्ग के भ, र, ग के पृथक्–पृथक् प्रयोजन लिखे हैं –

भ = इन लोकों को प्रकाशित करता है।

र = इन भूतों को आनन्द देता है।

ग = जिस कारण आत्मा में यह सब प्रजा सुषुप्ति और प्रलय–काल में लय को प्राप्ति होती है और फिर जाग्रत् तथा सृष्टिकाल में उत्पन्न भी होती है – यही 'ग' अक्षर का अर्थ है।

महर्षि दयानन्द के भर्गः के अर्थ निरुक्तानुसार ये लिखे हैं –

''यन्निरुपद्रवं निष्पापं निर्गुणं शुद्धं सकलदोषरहितं पक्वं परमार्थविज्ञानस्वरूपं तद् भर्गः।''

कितना बड़ा महत्व इस भर्ग शब्द में निहित है ! जब साधक गायत्री–मन्त्र के एक–एक शब्द के रहस्य को जानता हुआ तदनुकूल अपना आचरण बनाता हुआ 'वरेण्यम्' कहकर अपनी आत्मा की भेंट परमात्मा के आगे चढ़ा देता है तो भर्गः शक्तिवाले परमात्मा के अति श्रेष्ठ, अतिशुद्ध, निर्मल, पापविनाशक तेज का ध्यान करने लगता है। साधक जानता है, समझता है कि मैं अब उस दिव्य धोबी के पास पहुँच गया हूँ जो अन्तःकरण के मैलों को धो डालने की पूरी सामर्थ्य रखता है। चित्त में विषय–वासनाओं का जो कूड़ा–कचरा पड़ा है, उसे भस्म कर देना भर्ग प्रभु का एक खेल ही है, अब चिन्ता काहे की ? अब तो रोगी पहुँच गया है परम वैद्य के द्वार पर। अब भी मानसिक तथा आत्मिक और शारीरिक रोग क्या दूर न होंगे? होंगे क्यों नहीं ! पूरी श्रद्धा–भक्ति से इसी परम वैद्य का चौखट पकड़े रहो। जिस प्रकार यह परम वैद्य अनुपान तथा पथ्य बतलाए, उसके अनुसार गायत्री–मन्त्र के औषध का प्रयोजन करो, निश्चितरूपेण रोग जाएगा और पूर्ण स्वास्थ्य मिलेगा।

यही भर्ग–शक्तिवाला परमात्मा ही अविनाशी वैद्य है। उसी के पास परम औषध है। उसी के पास दुःख, पाप, रोग, शोक, चिन्ता को दग्ध कर देने की सामर्थ्य है। हमें केवल इतना करना है कि इस परम वैद्य की आज्ञानुसार अपना जीवन बना लेना है। उसकी आज्ञा है कि (1) साधक का आहार, विचार, आचार तथा व्यवहार सत्य हो। सत्य प्रभु पर प्रबल निष्ठा हो। (2) तपोमय जीवन हो। (3) सम्यक् ज्ञान द्वारा बुद्धि ऋतम्भरा प्रज्ञा बन जाए, और (4) शरीर तथा मन, ब्रह्मचर्यमय हो। तब गायत्री का जाप करके प्रभु–कृपा प्राप्त हो जाती है। साधन को भर्गवान् परमात्मा के पास पहुँचना है, जो तेजस्वरूप है, अतिश्रेष्ठ, अतिशुद्ध और निर्मल है। साधक यदि उतना नहीं तो कुछ अंश में तो पवित्र बने।

पवित्र–शुद्ध बनने का यत्न करना ही होगा। परन्तु यत्न करते–करते साधक जब थक जाता है और सफलता नहीं मिलती, और दयालु प्रभु भी जब देखते हैं कि अब और आगे बढ़ना इसकी सामर्थ्य में नहीं रहा, तब वह करुणा द्वारा साधक को पवित्र बना देते हैं।

परमात्मा अपनी कृपा साधक पर कैसे करते हैं, इसका बड़ा सुन्दर चित्र महर्षि दयानन्द ने 'ऋग्वेदादिभाष्य–भूमिका' में चित्रित किया है। उपासना–विषय में 'यजुर्वेद' अध्याय 11 के मन्त्रों की व्याख्या करते हुए महर्षि लिखते हैं –

''योग को करनेवाले मनुष्य तत्व अर्थात् ब्रह्मज्ञान के लिए जब अपने मन को पहले परमेश्वर में युक्त करते हैं तब सविता परमेश्वर उनकी बुद्धि को अपनी कृपा से अपने में युक्त कर लेता है। फिर वे परमेश्वर के प्रकाश को निश्चय करके यथावत् धारण करते हैं। पृथिवी के बीच में योगी का यही प्रसिद्ध लक्षण है।''

ऐसी कृपा होने पर ब्रह्मरन्ध अथवा हृदय–प्रदेश में एक दिव्य ज्योति प्रकट होती है। इसी ज्योति, प्रकाश या अतिश्रेष्ठ तेज का साधक को ध्यान करना है। पहले तो यह ज्योति धूम–सहित होती है। जब ध्यान अधिक परिपक्व होने लगता है तो ज्योति अधिक शुभ्र होती चली जाती है। पूर्व की ज्योति भौतिक है। शनैः–शनैः जब ध्यान विवेक–ख्याति तक पहुँच जाता है, तब साधक आत्म–ज्योति के दर्शन पाता है। यह ज्योति उसी भर्ग की ज्योति है, जो तेजोमय है और उसी के दिये तेज से लगभग दो अरब सूर्य नाना सौरमण्डलों में ज्योतिवाले हो रहे हैं और परमात्मा से दग्ध करने, पका देने और नाश कर देने की नन्ही–सी शक्ति पाकर जीवों तथा वनस्पतियों, समुद्रों और अन्य पदार्थों का कितना कल्याण कर रहे हैं!

गायत्री द्वारा साधना करनेवाले को भी परमात्मा की शक्ति भर्ग का कुछ अंश अपने अन्दर लाना है, ताकि उसके पाप दग्ध हो जायें और फिर ज्योति–स्तम्भ बन सके। यहाँ तक पहुँचने के लिए तप तो तपना ही पड़ेगा, तभी तेज व ज्योति से साधक युक्त हो सकेगा।

'भारद्वाज स्मृति' में गायत्री–मन्त्र का भाष्य करते हुए लिखा है –**'भर्गः – भञ्जो आमर्दने, भृजी भर्जने'**। इन दोनों धातुओं से भजन करनेवालों के पाप–नाश करने हेतु भर्ग है।

शेष अगले अंक में....

यही भर्ग–शक्तिवाला परमात्मा ही अविनाशी वैद्य है। उसी के पास परम औषध है। उसी के पास दुःख, पाप, रोग, शोक, चिन्ता को दग्ध कर देने की सामर्थ्य है। हमें केवल इतना करना है कि इस परम वैद्य की आज्ञानुसार अपना जीवन बना लेना है। उसकी आज्ञा है कि (1) साधक का आहार, विचार, आचार तथा व्यवहार सत्य हो। सत्य प्रभु पर प्रबल निष्ठा हो। (2) तपोमय जीवन हो। (3) सम्यक् ज्ञान द्वारा बुद्धि ऋतम्भरा प्रज्ञा बन जाए, और (4) शरीर तथा मन, ब्रह्मचर्यमय हो। तब गायत्री का जाप करके प्रभु–कृपा प्राप्त हो जाती है। साधन को भर्गवान् परमात्मा के पास पहुँचना है, जो तेजस्वरूप है, अतिश्रेष्ठ, अतिशुद्ध और निर्मल है। साधक यदि उतना नहीं तो कुछ अंश में तो पवित्र बने।

एकेश्वरवाद का प्रबल प्रचारक–अथर्व वेद

● शिवनारायण उपाध्याय

वर्तमान काल में लगभग सभी आस्तिक धर्मावलम्बियों ने ईश्वर के एकत्व को स्वीकार कर लिया है परन्तु इसका प्रबल समर्थन तो केवल अथर्व वेद ने ही किया है। हम अपने इस छोटे से लेख में अथर्व वेद के मन्त्रों के आधार पर ही इस तथ्य को प्रमाणित करने का प्रयास कर रहे हैं। अथर्व वेद के अनुसार वेदाध्ययन का मूल लक्ष्य ईश्वर का जान लेना ही है क्योंकि उसके जान लेने पर फिर कुछ भी जानने को शेष नहीं रह जाता है।

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत् तद् विदुस्ते अमीसमासतै।। अथर्व. 9.10.18

पदार्थ– (यस्मिन्) जिस (अक्षरे) अविनाशी (परमे) सर्वोत्तम (व्योमन्) व्यापक ब्रह्म में (ऋचः) वेद विद्या और (विश्वे) सब (देवाः) दिव्य पदार्थ (अधि) ठीक ठीक (निषेदुः) ठहरे हुए हैं। (यः) जो मनुष्य (तत्) उस ब्रह्म को (न वेद) नहीं जानता है वह (ऋचा) वेद विद्या से (किम्) क्या लाभ (करिष्यति) करेगा। (यः) जो पुरुष (इत्) ही (तत्) उस ब्रह्म को (विदुः) जानते हैं (ते अमी) वे ही पुरुष (सम्) शोभा के साथ (आसते) विराजते हैं। ईश्वर के स्वरूप को जानने का एकमात्र साधन वेदाध्ययन ही है।

ऋचाः पदं मात्रया कल्पयन्तोऽर्धर्चेन चाक्लृपुर्विश्वमेजत्।
त्रिपाद् ब्रह्म पुरुरूपं वितष्ठे तेन जीवन्ति प्रदिशश्चतस्रः।। अथर्व. 9.10.19

पदार्थ– (ऋचः) वेद वाणी से (पदम्) प्रापणीय ब्रह्म को (मात्रया) सूक्ष्मता के साथ (कल्पयन्ताः) विचारते हुए ऋषियों ने (अर्धर्चेन) समृद्ध वेद ज्ञान से (विश्वम्) संसार को (एजत्) चेष्टा कराते हुए ब्रह्म को (चक्लृपुः) विचारा। (त्रिपात्) तीन (भूत, भविष्य और वर्तमान काल अथवा ऊँचे, नीचे और मध्यलोक) में गतिवाला (पुरुरूपम्) बहुत सौन्दर्य वाला (ब्रह्म) ब्रह्म (वि) विविध प्रकार के (तस्थे) ठहरा हुआ था। (तेन) इस ब्रह्म के साथ (चतस्र) चारों बड़ी दिशायें (जीवन्ति) जीवन करती है।

ईश्वर एक ही है एक सर्वव्यापक और ज्योति स्वरूप है।

एको गौरेक एक ऋषिपिरेकं धामैकधारिषः।
यक्षं पृथिव्यामेकवृदेक ऋतुर्नाति रिच्यते।। अथर्व. 8.9.26

पदार्थ– (एकः) एक (सर्वव्यापक परमेश्वर) (गौः) लोकों का चलाने वाला (एकः) एक (एक ऋषिः) अकेला ऋषि (सृष्टि का मार्ग दर्शक) (एकम्) एक ब्रह्म (धाम) ज्योतिः स्वरूप है। (एकधा) एक प्रकार से (आशिषः) हित प्रार्थनाएं हैं। (पृथिव्याम्) पृथ्वी पर (एकवृत्) अकेला वर्तमान (यक्षम्) पूजनीय ब्रह्म (एकर्तुः) एक ऋतु वाला (एक रस वर्तमान परमात्मा) किसी से (न अति रिच्यते) नहीं जीता जागता है।

परब्रह्म परमेश्वर केवल एक है। उसमें अनन्त गुण होने के कारण उसके अनन्त गुणवाचक नाम हैं। विद्वान् लोग जानते हैं कि अनन्त नामधारी ब्रह्म एक ही है।

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरूत्मान्।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं मातरिश्वानमाहुः।। अथर्व. 9.10.28

पदार्थ– (अग्निम्) अग्नि (सर्वव्यापक परमेश्वर) को (इन्द्रम्) इन्द्र (बड़े ऐश्वर्य वाला) (मित्रम्) मित्र (वरुणम्) वरुण (श्रेष्ठ) (आहुः) ये (तत्वज्ञानी) कहते हैं। (अथो) और (सः) वह (दिव्यः) प्रकाशमय (सुपर्णः) सुन्दर पालन सामर्थ्य वाला (गरूत्मान्) स्तुति वाला (महान् आत्मा है। (विप्राः) बुद्धिमान लोग (एकम्) एक (सत्) सत्ता वाले ब्रह्म को (बहुधा) बहुत प्रकार से (वदन्ति) कहते हैं। (अग्निम्) उसी अग्नि (सर्वव्यापक परमात्मा) को (यमम्) नियन्ता और (मातरिश्वानम्) आकाश में श्वास लेता हुआ (अर्थात्) आकाश में व्यापक (आहुः) वे बताते हैं।

अब हम उस ब्रह्म के स्वरूप के विषय में चिन्तन करते हैं।

स धाता स विधर्ता स वायुर्नभ उच्छ्रितम्।
रश्मिभिर्नभ्र आभृतं महेन्द्र एत्यावृतः।। अथर्व. 13.4 (षट् पर्यायः) 3

पदार्थ– (सः) वह परमेश्वर (धाता) पोषण करने वाला और (सः) वह (विधर्ता) विचित्र प्रकार धारण करने वाला है, (सः) वह (वायुः) व्यापक (वा महाबली परमात्मा) और (उच्छ्रितम्) ऊँचा वर्तमान (नभः) प्रबन्धकर्ता अथवा नायक ब्रह्म है। (महेन्द्र) बड़ा ऐश्वर्यवान् (आवृतः) सब ओर से ढका हुआ (अन्तर्यामी परमेश्वर) (रश्मिभिः) किरणों द्वारा (आभृतम्) सब प्रकार पुष्ट किये हुए (नभः) मेघ मण्डल में (एति) व्यापक है।

पदार्थ – (यत्) जो कुछ (इदम्) यह (सर्वम्) सब है। (च) और (यत्) जो कुछ (भूतम्) उत्पन्न हुआ और (भाव्यम्) उत्पन्न होने वाला है, (उसका) (उत) और (अमृतत्वस्य) अमरपन का और (यत्) जो कुछ (अन्येन सह) दूसरे अर्थात् मोक्ष से भिन्न दुःख के साथ (अभवत्) हुआ है उसका भी (ईश्वरः) शासक स्वामी (पुरुषः) परिपूर्ण परमात्मा (एव) ही है।

भावार्थ– परमात्मा ही भूत, भविष्यत्, वर्तमान और सृष्टि, स्थिति, प्रलय का स्वामी होकर जीवों को उनके कर्मानुसार सुख और दुःख देता है।

य एतं देवमेकवृतं वेद।। अथर्व. 13.4 (पर्याय:2) 15

सोऽर्यमा स वरुणाः सं रुद्रः स महादेव।
रश्मिभिर्नभ आभृतं महेन्द्र एत्या वृतः।। अथर्व. 13.4 (षट् पर्यायः) 4

पदार्थ – (सः) वह परमेश्वर (अर्यमा) श्रेष्ठों का मान करने वाला (सः) वह (वरुणः) श्रेष्ठ (सः) वह (महादेवः) देवाधि देव है (शेष पूर्ववत्)

सो अग्निः स उ सूर्यः स उ एव महायमः।
रश्मिभिनर्भ आभृतं महेन्द्र एत्या वृतः।। अथर्व. 13.4 (षट् पर्यायः) 5

पदार्थ– (सः) वह परमेश्वर (अग्निः) व्यापक (सः उ) वही (सूर्यः) सूर्य वा प्रेरक (सः उ) वही (एव) निश्चय करके (महायमः) बड़ा न्यायकारी है। (शेष पूर्ववत्)

स एव मृत्युः सो 3 मृतं सो 3 भ्वं स रक्षः।। अथर्व. 13.4 (षट् पर्यायः) 25

पदार्थ– (सः एव) वही परमेश्वर (मृत्युः) मरण करने वाला (सः) वही (अमृतम्) अमरपन का कारण (सः) वही (अभ्वम्) महान् (सः) वही (रक्षः) रक्षा करने वाला परब्रह्म है।

स रुद्रो वसुवनिर्वसुदेये नमोवाके वषट्कारोऽनु संहितः।। अथर्व. 13.4 (षट् पर्यायः) 26

पदार्थ– (सः) वही (रुद्रः) ज्ञान दाता (वसुवनिः) श्रेष्ठों का उपकारी परमेश्वर (वसुदेये) श्रेष्ठों करके देने योग्य (नमोवाके) नमस्कार वचन में (वषट्कार) दान करने वाला (अनु) निरन्तर (संहितः) स्थापित है।

सहस्त्र बाहुः पुरुषः सहस्त्राक्षः सहस्त्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्यातिष्ठत् दशाङ्गुलम्।। अथर्व. 19.6.1

पदार्थ–(पुरुषः) परिपूर्ण परमात्मा (सहस्त्र बाहुः) सहस्त्रों भुजाओं वाला (सहस्त्र आक्षः) सहस्त्रों नेत्रों वाला (सहस्त्र पात्) सहस्त्रों पैरों वाला है। (सः) वह (भूमिम्) भूमि को (विश्वतः) सब ओर से (वृत्वा) ढक कर (दश अङ्. गुलम्) दश दिशाओं में व्याप्त वाले जगत् को (अति) लांघ कर (अतिष्ठत्) ठहरा है।

पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम्।
उतामृतत्वस्येश्वरो यदन्येनाभवत्।। अथर्व. 19.6.4

पदार्थ – (यत्) जो कुछ (इदम्) यह (सर्वम्) सब है। (च) और (यत्) जो कुछ (भूतम्) उत्पन्न हुआ और (भाव्यम्) उत्पन्न होने वाला है, (उसका) (उत) और (अमृतत्वस्य) अमरपन का और (यत्) जो कुछ (अन्येन सह) दूसरे अर्थात् मोक्ष से भिन्न दुःख के साथ (अभवत्) हुआ है उसका भी (ईश्वरः) शासक स्वामी (पुरुषः) परिपूर्ण परमात्मा (एव) ही है।

भावार्थ– परमात्मा ही भूत, भविष्यत्, वर्तमान और सृष्टि, स्थिति, प्रलय का स्वामी होकर जीवों को उनके कर्मानुसार सुख और दुःख देता है।

य एतं देवमेकवृतं वेद।। अथर्व. 13.4 (पर्यायः2) 15

पदार्थ– (यः) जो (एतम्) इस (देवम्) प्रकाश स्वरूप को (एकवृतम्) अकेले वर्तमान (परमात्मा) को (वेद) जानता है।

न द्वितीयो ने तृतीयश्चतुर्थो नात्त्युच्यते।
य एतं देवमेकवृतं वेद।। अथर्व. 13.4 (पर्यायः2) 16

न पञ्चमो न षष्ठः सप्तमो नाप्युच्यते।
य एतं देवमेकवृतं वेद।। अथर्व. 13.4 (पर्यायः2) 17

नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्युच्यते।
य एतं देवमेकवृतं वेद।। अथर्व. 13.4 (पर्यायः2) 18

पदार्थ– वह अकेला वर्तमान (न) न (द्वितीयः) दूसरा (न) न (तृतीयः) तीसरा (न) न (चतुर्थः) चौथा (अपि) ही (उच्यते) कहा जाता है। वह न (अष्टमः) आठवां (न) न (नवमः) नवां (न) न (दशमः) दसवां (अपि) ही (उच्यते) कहा जाता है।

स सर्वस्मै वि पश्यति यच्च प्राणति यच्च न।
य एतं देवमेक वृतं वेद।। अथर्व. 13.4 (पर्यायः2) 19

पदार्थ– (सः) वह परमेश्वर (सर्वस्मै) सब जगत् के लिए (वि) विविध प्रकार (पश्यति) देखता है। (यत्) जो (प्राणति) श्वास लेता है (च) और (यत्) जो (न) न ही श्वास लेता है।

वह परमात्मा अपने आप में पूर्ण है।

पूर्णात् पूर्णमुदचति पूर्ण पूर्णेन सिच्यते।
उतो तदद्य विद्याम यतस्तत् परिषिच्यते।। अथर्व. 10.8.29

पदार्थ–(पूर्णात्) पूर्ण ब्रह्म से (पूर्णम्) सम्पूर्ण जगत् (उत् अचति) उदय होता है। (पूर्णेन) पूर्ण ब्रह्म द्वारा (पूर्णम्) सम्पूर्ण जगत् (सिच्यते) सींचा जाता है। (उतो) और भी (तत्) उस (कारण) को (अद्य) आज (विद्याम) हम जानें (यतः) जिस कारण से (तत्) वह (सम्पूर्ण जगत्) (परिषिच्यते) सब प्रकार सींचा जाता है।

अथर्व वेद में परमेश्वर के विषय में विस्तृत वर्णन है पर हम उसे संक्षेप में रखकर यहीं विराम देते हैं इति शम्।

उत्कृष्ट शंका समाधान

● स्वामी विवेकानन्द परिव्राजक

शंका– 'तेजो असि तेजो मयि देहि' इस मंत्र में हमने ईश्वर से क्रोध की और सहन–शक्ति की भी प्रार्थना की है। जो दोनों मुझे विरुद्धार्थी लगते हैं?

समाधान– अन्याय के प्रति पराक्रम दिखाकर, क्रोध करना चाहिये अर्थात् विरोध करना चाहिये या फिर अन्याय को सह लेना चाहिये? यह बहुत अच्छा प्रश्न है। दोनों अवसरों पर दोनों काम करने चाहिये। छोटा–मोटा अन्याय हो तो सह लेना चाहिये। बड़ी गड़बड़ हो और बिल्कुल हमारी जान पर आ गयी हो तो फिर अपनी रक्षा भी करनी चाहिये।

लड़ाई–झगड़ा करना हमारा उद्देश्य नहीं है। व्यर्थ में किसी को मारना–पीटना, किसी को परेशान करना, किसी को दु:ख देना हमारा ऐसा कोई उद्देश्य नहीं। पर अपने जीवन की रक्षा करना तो हमारा अधिकार है। अपने जीवन की रक्षा तो हम करेंगे। महर्षि दयानंद का ही उदाहरण ले लीजिये। लोगों ने उन पर पत्थर फेंके, साँप फेंके, झूठे आरोप लगाए, बहुत उल्टे–सीधे काम किये। कई बार जहर पिलाया तब भी उन्होंने कहा– "चलो दो, कोई बात नहीं"। अपनी रक्षा कर ली, अपना बचाव कर लिया, की बात नहीं की थी। एक बार उन्हें जंगल में देवी के मंदिर और वहाँ उनकी बलि चढ़ाने की। वो जा तो नहीं रहे थे लेकिन ऐसे ही उनको बहका करके ले गए और वो चले गए तो वहाँ जाकर देखा अरे यहाँ तो मामला गड़बड़ है। तलवार लेकर खड़ा है, मुझे गा। तो वो फटाफट दीवार कूदकर भाग गए। देखो, उन्होंने अपनी रक्षा कर ली या नहीं। इसलिए अपनी रक्षा कर लेनी चाहिये, उसमें कोई आपत्ति नहीं है। वो तो हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है। भगवान ने भी छूट दे रखी है और सरकार ने भी छूट दे रखी है। अपनी रक्षा पूरी करो लेकिन खामखाँ दूसरे से झगड़ा मत करो। इस तरह से सहन भी करना चाहिये।

अगर हम सहन नहीं करेंगें तो फिर मनुष्य, मनुष्य नहीं रहेगा। फिर तो वो मशीन की तरह हो जाएगा। जैसे बिजली की मशीन थोड़ा सा भी उसको छू दो तो फट से करेंट मारती है। हम भी अगर कोई थोड़ा सा बस में, भीड़–भाड़ में पाँव पर पाँव रख दे और हम उसको दो थप्पड़ मारते हैं तो हम भी मशीन की तरह हो जायेंगे। फिर हम इंसान थोड़े रहेंगे। बस में भीड़ होती है, रेल में भीड़ होती है, बाजार में भीड़ होती है। कोई चलते–चलते थोड़ा सा टकरा गया, किसी का हाथ टकरा गया तो वहाँ तो ऐसा ही बोलना पड़ेगा कि– कोई बात नहीं, जाने दो, भीड़–भाड़ है, हो जाता है ऐसा। वहां तो सहन ही करना पड़ेगा। अगर कोई जबरन हमें परेशान करे तो फिर अपनी रक्षा भी करनी चाहिये। इतने कमजोर भी नहीं बनना चाहिये। फिर भी क्रोध करना तो ठीक नहीं है। क्योंकि क्रोध की अवस्था में बुद्धि ठीक काम नहीं करती और व्यक्ति गलत काम कर बैठता है, जिससे उसकी हानि होती है।

'मन्युरसि मन्युं मयि देहि'। प्रार्थना इसलिए करें, क्योंकि यहाँ पर 'क्रोध, का अर्थ 'क्रोध' नहीं है। जो प्रचलित अर्थ में क्रोध है, वह अर्थ नहीं है। यहाँ पर क्रोध का अर्थ है, 'जो बुरे काम हैं, उनसे बचकर रहें'। यदि हम उनसे बचकर नहीं रहेंगे तो बुरे काम हम सीख लेंगे और करने लगेंगे। तो यहाँ गौण अर्थ में क्रोध शब्द का प्रयोग है कि– **बुरे कामों पर क्रोध करें, अर्थात् बुरे काम न करें, उनसे घृणा (परहेज) करें, उनसे दूर रहें, उनसे बचकर रहें। क्रोध शब्द का अर्थ यह है।**

साधारण व्यक्ति जब यह प्रार्थना करे तो इसका अर्थ यह है– मैं बुरे कामों का विरोध करूं अर्थात् मैं बुरे काम न करूं। बुरे लोगों से बचकर रहूँ, ताकि मेरा जीवन ठीक–ठाक चले।

इसका दूसरा अर्थ यह है कि जो राजा है, क्षत्रिय है, वह यह प्रार्थना करे– **'हे ईश्वर! आप दुष्टों को दण्ड देने वाले हैं। मुझे भी शक्ति दो, ताकि मैं इस धरती के सारे दुष्टों को ठीक कर दूँ, इन दुष्टों को दण्ड दूँ ताकि ये जनता को परेशान न कर सकें।** राजा की ओर से यह प्रार्थना है। राजा अपनी प्रार्थना करे।

शंका– कृपया द्वेष के पर्यायवाची बतलायें। द्वेष का अर्थ बुरा लगना, अच्छा न लगना, घृणा करना, विरोधी समझना, गलत भावना बना लेना, क्या ठीक है?

समाधान– देखिये, द्वेष के पर्यायवाची कई हो सकते हैं और इनके स्वरूप भी छोटे–बड़े हो सकते हैं। **द्वेष का मोटा सा अर्थ है, अच्छा न लगना।** जब हमारे मन में दूसरे व्यक्ति के प्रति क्रोध आता है, जलन होती है, उनका नाम भी द्वेष है। किसी ने हमारी थोड़ी सी बेइज्जती कर दी और हमारे मन में इच्छा हो गई कि– "अब इससे बदला लेंगे, इसका भी दिमाग दुरुस्त कर देंगे, यह अपने आपको क्या समझता है, मेरा भी अवसर आने दो, इसको दिन में तारे दिखा दूँगा।" व्यक्ति मन में ऐसा सोचता है और जलता–भुनता रहता है। इसका नाम नैमित्तिक द्वेष है। मन में अगर जलन होती है, गुस्सा आता है, बदला लेने की भावना आती है, मार डालने की इच्छा होती है तो यह नैमित्तिक द्वेष है। यह तो अभ्यास से हट जायेगा।

एक द्वेष का बहुत सूक्ष्म स्वरूप भी है 'कोई चीज पसंद न आना' वो स्वाभाविक है, वो हटेगा नहीं। यह तो जीवात्मा में सदा ही रहेगा। यह जीवात्मा का नित्य गुण है। हम अल्पज्ञ हैं, अल्प शक्तिमान हैं और हमारी रुचि हर वस्तु में हो भी नहीं सकती। कोई जरूरी थोड़े ही है कि हर चीज हमको अच्छी लगे। आपको खाने में हर आइटम पसंद नहीं आती, हर सब्जी आप रुचिपूर्वक नहीं खाते। कोई खाते हैं, कोई नहीं खाते। यह तो स्वाभाविक बात है।

दर्शन योग महाविद्यालय
रोजड़ (गुजरात)

खेड़ा अफ़गान में योग शिविर

आर्य समाज खेड़ा अफ़गान में '21 जून योग दिवस' पर योग शिविर का आयोजन किया गया। जिसमें सर्वप्रथम यज्ञ किया गया। वेद मन्त्रों से सभी ने आहुतियाँ दीं। तत्पश्चात् आचार्य रणवीर शास्त्री जी ने योगसनों एवं प्राणायाम का अभ्यास कराया जिसमें बहुतसे युवकों ने उत्साह पूर्वक भाग लिया तथा युवकों का शंका समाधान करते हुये महर्षि पतन्जलि के योग दर्शन का स्वरूप समआया तथा आधुनिक योगासनों को विशिष्ट लाभकारी व्यायाम की संज्ञा देते हुए बताया कि अष्टांग योग के द्वारा यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि पर चलते हुए मनुष्य सब दु:खों से छूटकर मोक्ष को प्राप्त कर सकते हैं। आर्य समाज के प्रधान श्री आदित्य प्रकाश गुप्त जी ने योग के महत्व पर प्रकाश डाला और अष्टांग योग के अनुसार अपने जीवन को चलाने पर बल दिया तथा वैदिक संस्कृति उत्थान न्यास की ओर से विद्यार्थियों को दयानन्द जीवनदर्पण पुस्तक तथा आर्य जगत् साप्ताहिक का एक वर्ष का चन्दा देकर सम्मानित किया। इस अवसर पर बड़ी सख्यां में युवको ने भाग लिया अन्त में प्रधान जी सभी का धन्यवाद दिया।

इतना ही बहुत है

रिश्ते बनते रहें,
इतना ही बहुत है।

हम हंसते रहें,
इतना ही बहुत है।।

हर कोई हर वक्त,
साथ नहीं रह सकता।

याद एक दूसरे को करते रहें,
इतना ही बहुत है।।

अजय सहगल, प्रस्तोता

मूर्तिपूजा, तीर्थ व नामस्मरण का सच्चा स्वरूप और स्वामी दयानन्द

● मनमोहन कुमार आर्य

महर्षि दयानन्द न केवल वेदों एवं वैदिक साहित्य के विद्वान थे अपितु उन्हें पुराणों सहित सभी अवैदिक धार्मिक ग्रन्थों व पुस्तकों का भी तलस्पर्शी ज्ञान था। अपने इस व्यापक ज्ञान के कारण ही उन्होंने जहां वेदों का भाष्य किया और सत्यार्थ प्रकाश, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका सहित संस्कार विधि आदि अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थों का प्रणयन किया वहीं उन्होंने सभी मत व पन्थों की समीक्षा कर उनमें विद्यमान अज्ञान व अन्धविश्वासों से युक्त मान्यताओं का प्रकाश व समाधान भी किया। महाभारत काल से कुछ समय पूर्व जब वैदिक धर्म में विकृतियाँ उत्पन्न हुईं तो उसका परिणाम पौराणिक मत का अविर्भाव हुआ और देश–विदेशों में अन्य मत अस्तित्व में आये। जिस प्रकार से सूर्यास्त होने पर अन्धकार होना आरम्भ होकर बाद में रात्रि रूपी गहन अन्धकार हो जाता है और सूर्योदय होने पर पुनः अन्धकार दूर होकर प्रकाश हो जाता है, ऐसा ही महाभारतकाल और बाद के वर्षों में समस्त देश भर में व विदेशों में भी ज्ञानान्धकार उत्पन्न हो गया था। महर्षि दयानन्द के प्रादुर्भाव से व वेदों के उनके सत्यार्थ के प्रचार से अज्ञान का अन्धकार अस्त होकर ज्ञान का देश व विदेशों में प्रचार हुआ। अन्धकार के दिनों में मूर्तिपूजा अस्तित्व में आई और नदियों को तीर्थ की संज्ञायें दी गईं। यद्यपि नदियों का अपना महत्व है, परन्तु उन्हें अनावश्यक धार्मिक महत्व देकर ईश्वर के सच्चे स्वरूप को विस्मृत कर उसका स्वाध्याय, चिन्तन, मनन, ध्यान, उपासना, अग्निहोत्र व यज्ञ का त्याग कर देना एक प्रकार की नास्तिकता है जो मनुष्यों को बहुत बड़ी विपत्ति में डालने वाली है। इसका ज्ञान वेदों व वैदिक साहित्य का अध्ययन करने पर होता है और सत्यार्थ प्रकाश ग्रन्थ को पढ़कर भी इसका ज्ञान व विश्वास होता है।

आज इस लेख में हम मूर्तिपूजा, तीर्थ व नामस्मरण पर महर्षि दयानन्द जी के सत्य व यथार्थ विचारों को प्रस्तुत कर रहे हैं। हमारा सौभाग्य है कि ईश्वर की कृपा से महर्षि दयानन्द के कुछ उपदेश ही नहीं अपितु उनके द्वारा स्वयं लिखाये गये विचार व उनके द्वारा सम्पादित किये गये ग्रन्थ उपलब्ध हैं। अनेक महापुरुष व युगपुरुष ऐसे भी हैं जिन्होंने धर्म का प्रचार किया परन्तु स्वयं कोई ग्रन्थ नहीं लिखा। उनके शिष्यों ने लम्बी अवधि बाद उनके विचारों का संकलन किया। अब इन ग्रन्थों को पढ़ने के बाद यह ठीक से ज्ञात नहीं होता कि उन ग्रन्थों में व्यक्त विचार क्या वस्तुतः यथार्थ रूप में उन्हीं के हैं या ग्रन्थ में वह कुछ भिन्नता को प्राप्त हुए हैं या ऐसा तो नहीं कि कहीं लेखकों के लिखने में स्मृति दोष व मनुष्यों की अल्पज्ञता आदि दोषों के कारण उनका शुद्ध स्वरूप किंचित परिवर्तित हो गया हो। वक्ता के उपदेश को स्मरण कर लिखने में भूलों का होना स्वाभाविक है। अस्तु।

अब लेख के विषय पर आते हैं। सत्यार्थप्रकाश ग्रन्थ में महर्षि दयानन्द जी ने स्वयं एक प्रश्न उपस्थित किया है जिसमें वह कहते हैं कि यह मूर्तिपूजा और तीर्थ सनातन (हमेशा) से चले आते हैं, अतः यह झूठे क्यों कर हो सकते हैं? इसका विवेकपूर्ण उत्तर देते हुए महर्षि दयानन्द ने लिखा है कि **तुम सनातन किस को कहते हो?** जो सदा से चला आता, जो यह सदा से होता तो वेद और ब्राह्मणादि ऋषिमुनिकृत पुस्तकों में इनका नाम क्यों नहीं? **यह मूर्तिपूजा अढ़ाई तीन सहस्र वर्ष के इधर–उधर वाममार्गी और जैनियों से चली है।** इससे पूर्व आर्य्यावर्त्त में नहीं थी और ये तीर्थ भी नहीं थे। जब जैनियों ने गिरनार, पालिताना, शिखर, शत्रुंजय और आबू आदि तीर्थ बनाये, (उनके पश्चात) उनके अनुकूल इन (पौराणिक व अन्य) लोगों ने भी बना लिये। जो कोई इनके आरम्भ की परीक्षा करना चाहे वे पण्डों की पुरानी से पुरानी बही और तांबे के पत्र आदि लेख देखें तो निश्चय हो जायेगा कि ये सब तीर्थ पांच सौ अथवा सहस्र वर्ष से इधर ही बने हैं। सहस्र वर्ष के उधर का लेख किसी के पास नहीं निकलता, इससे (यह मूर्तिपूजा व तीर्थों का प्रचलन) आधुनिक है।

अन्य प्रश्न यह प्रस्तुत किया है कि जो–जो तीर्थ वा नाम का माहात्म्य अर्थात् जैसे **'अन्यक्षेत्रे कृतं पापं काशीक्षेत्रे विनश्यति।'** इत्यादि बातें हैं वे सच्ची हैं या नहीं? इसका उत्तर महर्षि दयानन्द देते हैं कि ये बातें सच्ची नहीं हैं। **क्योंकि जो पाप छूट जाते हों तो दरिद्रों को धन, राजपाट, अन्धों को आंख मिल जाती, कोढ़ियों का कोढ़ आदि रोग छूट जाता, ऐसा होना चाहिए था। (क्योंकि पापी व्यक्ति को ये वस्तुयें प्राप्त होती हैं, पाप न करने वालों को नहीं। इसलिये पाप व पुण्य किसी का नहीं छूटता।** पौराणिक जगत में यह मान्यता भी प्रसिद्ध रही है कि जो सैंकड़ों सहस्रों कोस से दूर भी 'गंगा–गंगा' कहे तो उस के सब पाप नष्ट होकर वह विष्णुलोक अर्थात् वैकुण्ठ को आता है। इसी प्रकार की दूसरी मान्यता यह रही है कि 'हरि' नाम का उच्चारण सब पापों को हर लेता है। **वैसे ही राम, कृष्ण, शिव, भगवती आदि नामों का माहात्म्य है।** तीसरी मान्यता यह है कि जो मनुष्य प्रातःकाल में शिव अर्थात् शिव–लिंग वा उसकी मूर्ति का दर्शन करे तो रात्रि में किया हुआ, मध्यान्ह में दर्शन से जन्म भर का, सायंकाल में दर्शन करने से सात जन्मों का पाप छूट जाता है। यह शिव–लिंग के दर्शन का महात्म्य है। इन तीनों मान्यताओं को प्रस्तुत कर वह पूछते हैं कि क्या इस प्रकार से नामस्मरण से इनका महात्म्य झूठा हो जायेगा? इसका स्वयं उत्तर देते हुए वह कहते हैं कि इनके मिथ्या होने में क्या शंका? क्योंकि गंगा–गंगा वा हरि व हरे व हरे राम, कृष्ण, नारायण, शिव और भगवती के नामस्मरण से पाप कभी नहीं छूटता। जो छूटे तो दुःखी कोई न रहे। और पाप करने से कोई भी न डरे, जैसे आजकल पोपलीला में (पोपलीला व इन पाखण्डों के कारण) पाप बढ़ कर हो रहे हैं। मूढ़ों को विश्वास है कि हम पाप कर नामस्मरण वा तीर्थयात्रा करेंगे तो पापों की निवृत्ति हो जायेगी। इसी विश्वास पर पाप करके इस लोक और परलोक का नाश करते हैं, पर किया हुआ पाप भोगना ही पड़ता है।

उपर्युक्त ज्ञान देकर महर्षि दयानन्द ने इस प्रश्न कि **क्या कोई तीर्थ नामस्मरण सत्य है या नहीं?** का उत्तर देते हुए कहा है कि **वेदादि सत्य शास्त्रों का पढ़ना–पढ़ाना, विद्वानों का संग,परोपकार, धर्मानुष्ठान, योगाभ्यास, निर्वैर, निष्कपट, सत्यभाषण, सत्य का मानना, सत्य करना, ब्रह्मचर्य, आचार्य, अतिथि, माता–पिता की सेवा, परमेश्वर की स्तुति–प्रार्थना, उपासना, शान्ति, जितेन्द्रियता, सुशीलता, धर्मयुक्तपुरुषार्थ, ज्ञान–विज्ञान आदि शुभगुण, कर्म दुःखों से तारने वाले होने से तीर्थ हैं। और जो जल–स्थलमय स्थान हैं वे तीर्थ कभी नहीं हो सकते क्योंकि 'जना यैस्तरन्ति तानि तीर्थानि' मनुष्य जिन कर्मों को करके दुःखों से तरें उन का नाम तीर्थ है। जल स्थल तराने वाले नहीं किन्तु डुबाकर मारने वाले हैं। प्रत्युत नौका आदि का नाम तीर्थ हो सकता है क्योंकि उनमें से भी समुद्र आदि को तरते हैं। स्वामी दयानन्द जी अष्टाध्यायी सूत्र 4/4/107 'समानतीर्थे वासी' तथा यजुर्वेद अध्याय 16 के 'नमस्तीर्थ्याय च' वचनों को प्रस्तुत कर कहते हैं कि जो ब्रह्मचारी एक ही आचार्य से एक शास्त्र को साथ–साथ पढ़ते हों, वे सब सतीर्थ्य अर्थात् समानतीर्थसेवी होते हैं। जो वेदादि शास्त्र और सत्यभाषाणादि धर्म लक्षणों में साधु हो उसको अन्नादि पदार्थ देना और उन से विद्या लेनी इत्यादि तीर्थ कहाते हैं।**

नामस्मरण, **'यस्य नाम महद्यशः'** (यजुर्वेद वचन) में जो भावना है, उसके अर्थ सहित स्मरण करने को कहते हैं। परमेश्वर का नाम बड़े यश अर्थात् धर्मयुक्त कामों का करना है। जैसे ब्रह्म परमेश्वर, ईश्वर न्यायकारी, दयालु, सर्वशक्तिमान् आदि नाम परमेश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव से हैं। जैसे ब्रह्म सब से बड़ा, परमेश्वर ईश्वरों का ईश्वर, ईश्वर सामर्थ्ययुक्त, न्यायकारी कभी अन्याय नहीं करता, दयालु सब पर कृपादृष्टि रखता, सर्वशक्तिमान् अपने सामर्थ्य ही से सब जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय करता, सहाय किसी का नहीं लेता। ब्रह्मा विविध जगत् के पदार्थों का बनानेहारा, विष्णु सब में व्यापक होकर रक्षा करता, महादेव सब देवों का देव, रुद्र प्रलय करनेहारा, आदि नामों के अर्थों को अपने में धारण करे अर्थात् बड़े कामों से बड़ा हो, समर्थों में समर्थ हो, सामर्थ्यों [illegible] बढ़ाता जाय। अधर्म कभी न करे। स[illegible] दया रखे। सब प्रकार के साधनों को [illegible] करे। शिल्प विद्या से नाना प्रकार के [illegible] को बनावे। सब संसार में अपने अ[illegible] तुल्य सुख–दुःख समझे। सब की र[illegible] विद्वानों में विद्वान होवे। दुष्ट [illegible] कर्म करने वालों को प्रयत्न से [illegible] सज्जनों की रक्षा करे। इस प्रकार [illegible] के नामों का अर्थ जानकर [illegible]रमेश्व[illegible] गुण, कर्म, स्वभाव के अनुकूल [illegible]पने कर्म, स्वभाव को करते जाना ही [illegible] का नामस्मरण है।

महर्षि दयानन्द ने मूर्तिपूजा [illegible] निरर्थकता से अवगत कराया है। तीर्थ [illegible] सम्बन्ध में सभी प्रकार की भ्रान्तियों को दूर कर सच्चे तीर्थ का स्वरूप प्रस्तुत किया है। इसी प्रकार नामस्मरण की मिथ्या मान्यता का खण्डन कर यथार्थ मान्यता का सत्य व यथार्थ स्वरूप प्रस्तुत किया है। महर्षि दयानन्द के विचारों, मान्यताओं व सिद्धान्तों को विगत 132 वर्षों की अवधि में सत्य पाया गया है व उनकी वैदिक मान्यताओं की पुष्टि हुई है। आशा है कि विवेकी पाठक और पौराणिक बन्धु महर्षि दयानन्द के इन विचारों से लाभ उठा कर अपने जीवन का कल्याण करने के साथ देश व समाज को भी वेद सम्मत आधुनिक स्वरूप देने में अपनी भूमिका निभायेंगे। सत्य का ग्रहण और असत्य का त्याग ही मनुष्य जीवन का उद्देश्य है। विवाद व दुराग्रह से स्वार्थ सिद्धि करना जीवनोद्देश्य नहीं है।

196 चुक्खूवाला–2
देहरादून–248001
फोन: 09412985121

Aging Gracefully

● Dr. B.M. HegdeMD

One does not have to abhor aged people at all. I do not agree with Shakespeare. One could grow up gracefully and could achieve many things even at the ripe old age. There are examples of people who have been creative even in their eighties and nineties. How to grow old gracefully is a million dollar question. Any society, which does not have the wise counsel of its elderly people, is a poor society. Age mellows people a lot. If one is a thinker, age teaches many useful lessons. Life is not long enough for each of us to make all the mistakes ourselves and then learn from them. We could learn from others' mistakes and, in this direction, the thinking elders are a great boon.

The craze for money and power seems to be the cause of degradation of societal morals and ethics. The bad effects of this are seen in all walks of life. Competition, which is alien to human physiology, is the key word these days. Competition breeds mediocrity in every sphere, resulting in falling standards of morality, ethics, and common courtesies this is not new. Look at the Shakespeare wrote bout the state of affairs then.

"For in the fatness of these pursy nes,
Virtue itself of vice must pardon "

—Hamlet

If one goes deep into this malady, one quickly realizes that the root cause of our entire competitive ethos starts with our present system of education at the primary level. The innocent child born with only two basic instincts of self-preservation and procreation, is injected with the poisons of pride, ego, jealousy, hatred and anger right from the first examination in school where we encourage all these by grading students into different ranks.

Aging starts from the day one is made in the mother's womb, soon after the father's spermatazoan enter the mother's ovum. The resultant zygote is only a small speck of protein weighing just 0.00000000001 gm. This little speck of protein is the beginning of man. The zygote starts life at that very second with a consciousness, which gets to know all about all other living things on this planet postori and priori. The consciousness runs the person from the time till he eventually dies. The difference between life and death could only be made out by observation by others.

This is the Schrodinger's cat hypothesis. All zygotes thus formed have one certainty in this world, that is death. All other aspects of life are uncertain.

Thus defined, ageing starts from the day you are made, and goes on ceaselessly until death. In other words aging is a constant change from conception to death. The most important stimulus for.

Aging is the human consciousness; which, in simple terms, bóils down to the vagaries of human mind. Where, then, is the human mind? Never mind! The mind certainly is not in the brain or the heart or any other anatomic structure at the cellular level. Mind is a subcellular, sub-atomic quantum concept. It transcends all the physical laws of deterministic predictability. Even the Einstein's theory of motion that states that "nothing could move faster than light" does not apply to the human mind. Mind could travel faster than light and could even communicate unconventionally by teleportation.

Mind has the great influence on all bodily functions that physical sciences understand now. The mind, in short, runs the body. For every change in the body there are reasons in the mind and every alteration in the mind and human feelings would have to have corresponding reverberations in the body. Mind could influence every single cell in the human system, of which there are 10 14 cells in all.

The human consciousness (mind) is at the root of all our illnesses as well as our happiness. The inner mind is always happy to be of some use to others and is not very happy to hurt someone else.

The Universal consciousness demands the survival of all creatures in this Universe. The rules of the game are such that very bad people with malice would have to be, per force, curtailed in their demonic behaviour in society. This may be one of the reasons why one gets illness in the first place. Modern science does not tell us why does one get a disease, but tries to explain as to how one can get rid of it. Sir Charles Scott Sherrington discussed this point very well as he has contributed a lot to medical science. It was he who said in 1899 AD, while accepting this new assignment: How much but not the question why! A physiologist could say how does the heart contract, but would not be able to define life.

He has come very close to quantum physics, which says that life could only be observed by the eye of the beholder. (Schrodinger's cat) Later in the year 1937, aged 90 years, Sherrington gave a Lumlein Lecture at the Royal College of physicians of London, entitled Wisdom of the Human Body.

All those thinkers have also found it impossible the human mind completely. It is now known that the human consciousness runs every cell in the human body from the time of conception. Cancers to common colds are the result of unhappiness and its bad effects on our consciousness and, consequently, on all our body cells. Even the abnormal heart rhythms that we have been treating as an aberration of the heart's function without much success have been now traced to the human mind!

What pleases the human consciousness is the Universal consciousness of Universal Love. What hurts it is anything against this dictum. Aging that happens.

From day one of our existence would, per force, depend on this principle. Love and compassion slows the ageing process while hatred and anger along with ego, pride, jealousy, and fear would enhance the ageing process. The secret of keeping your cells healthy and young (as much as possible), Universal love. This message has to go down to the next generation before they get converted like us to hate on another.

We, in the present generation could not get the benefit of this message, except in a limited sense, since we have had all the bad feelings all along for our brethren in society. We could still benefit if we change now! But the next generation could change all that for their good if we let them grow up with the innocence that they are born with. One positive way of achieving that would be avoid examinations and ranking in schools till the child attains the age of fifteen, when most of the foundations for future life vis-a-is the human mind are well set.

I wonder if I would be bale to convince our powers-that-be in charge of primary education, the most important part of a nation's growth, about this message. Healthy citizens of the future need healthy education to keep their body cells young and healthy. Copying the West in keeping our old elderly comparatively comfortable is secondary. If we could teach our young the secret of love and compassion, they would look after their elders as in the past. They used to venerate their teachers, parents and God.

Times have changed with the western ways getting more fashionable with our younger generation, who think that the Indian wisdom of yore is only a myth and the reality is to live a rat race of living with hatred and greed. Medical science and quantum physics have proved them wrong and have shown how modern and scientific are the Indian thoughts of the Vedas, even in this field of trying to keep oneself young and healthy. The West is now anxious to go back the large family system of the East, especially India. Since they can not change overnight they are forming so-called church groups. These are a group of unit families that live like a large family in every way possible, helping each other. The latter gives that sense of belonging that keeps the mind happy and the body cells healthy and young. The long-term solution for the problems of our elderly is to inculcate this new philosophy in our young minds.

Morphological ageing has very little to do with cellular ageing. One could still see many white haired elderly looking people still happy and healthy while the young looking people could have the most devastating illnesses. Cellular ageing depends on the mind to a great extent and the mind is not a cellular concept but a sub-cellular sub-atomic concept. Happy mind resides in a healthy body and vice versa.

The modern epidemics of the West, divorce and suicide, both originate in the mind. Wars are born in the minds of men and not in the battlefields.

The solution to all the ills of the world is to ensure a healthy mind in our next generation by the methods advocated above. It may not be very appealing to most of the readers, as this concept has not reached medical textbooks' yet. "Truth", said Aristotle, "could influence only half a score of men in a given century or time, while falsehood and mystery would drag millions by the nose." Listen to the sane voice of the Indian wisdom:

PrasannaAthmaIndriya
Manahasvastha
Ithyabhideeyathe.

[Happiness of the soul, senses, and the mind would ensure good health definitely]

Avachasam…Naanaa
Dharmanaam,
?…Napaschuraanthi.

That they could all be fed lot to be loved and respected as ones? own religion! I have not been able to find anything everyone to live happily till you die. Aging would then be not a problem for the East as also the West. Death can never be postponed, nor avoided; as it is against the Laws of Nature.

The following Ameri-Indian song tells it all.

"I eat when I am hungry,
I drink when I am thirsty,
If heavens don't fall down,
I shall certainly live till I die."

The only thing that we could try to do is to live well till death. Modern medicine and all the scientific knowledge, put together, could just about do that; if only we could change our attitude to life as enunciated above.

ईश्वर में सर्वज्ञता का गुण होने से उसे चैतन्य कहा जाता है

● श्री हरिश्चन्द्र वर्मा

ईश्वर मानव जैसा चैतन्य गुण वाला नहीं है और न वह अल्पज्ञ, अल्प सामर्थ्य वाला ही है। वह ईश्वर एक ऐसा सर्वव्यापी ऊर्जावान् है जिसमें चैतन्यता और सर्वज्ञता का भी गुण है और उसी के प्रबल नियम की प्रेरणा से प्रकृति के सत्, रज, तम के परमाणु सूक्ष्म से विराट् सृष्टि के कार्य–कारण बने हुए हैं। जैसे अग्नि पंचतत्व आदि में होते हुए उनसे वह अलग है वैसे ही वह परमात्मा प्राण के समान इस पिण्ड और ब्रह्माण्ड में होते हुए वह उनसे परे है। परे इसलिये कि वह आत्मा से भी सूक्ष्म है। यदि वह सबसे सूक्ष्म सर्वव्यापक सर्वशक्तिमान न होता तो प्रकृति में कोई गति न होती, और जब गति नहीं तो कुछ भी कोई भी तत्व अस्तित्व में प्रकट न हो पाता।

जैसे अग्नि लोहे में होते हुए वह उससे पृथक है वैसे ही ईश्वर प्रकृति में होते हुए वह उससे परे है। अतः उस महान परब्रह्म की कोई गति नहीं जो प्राण के समान सर्वत्र विद्यमान और सर्वोपरि है उसकी भला गति कैसे हो सकती है बल्कि उस प्रणव प्राणाधार के प्रभाव से समस्त कणों की गति हो रही है।

जैसे प्राण इस पिण्ड शरीर के बन्धन में नहीं है वैसे ही ब्रह्म ब्रह्माण्ड के बन्धन में नहीं है। पर जैसे प्राण से शरीर विद्यमान है वैसे ही ब्रह्म से ब्रह्माण्ड प्रकाशमान है।

परमेश्वर क्षितिज के समान नजदीक भी है और दूर भी है, आप उसे पकड़ नहीं सकते, परन्तु ध्यान द्वारा मन की एकाग्रता से उसे अपने में उसके दिव्य अति सुन्दर प्रकाश को अवश्य देख सकते हैं।

''**तद दूरे तद्वन्तिके तदन्तर रस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य वाह्यतः।।** (यजु. अ.40,5)

वह दूर से भी दूर है क्योंकि इन्द्रियाँ उसका अनुभव नहीं कर सकतीं। वह निकट से भी निकट है क्योंकि वह सबसे अधिक सूक्ष्म है। परन्तु बाह्य पूजकों से वह छिपा रहता है, उन्हें वह नहीं दिखता।

ईश्वर के स्वरूप का वर्णन करते हुए वेद ने कहा है कि–

यमेरिरे भृगवो विश्व वेदसं नाभा पृथिव्या भुवनस्य मज्मना।

अग्निं तं गीर्मिर्हिनुहिस्व आ दमे य एको वस्वो वरुणो न राजति।।

(ऋ.1,143,4) हे मनुष्यो! जो विद्वानों के द्वारा जानने योग्य, सर्वव्यापक, प्रशंसा योग्य, सच्चिदानन्द आदि लक्षणों वाला सर्वशक्तिमान्, अनुपम, अति–सूक्ष्म, स्वयं प्रकाश स्वरूप और अन्तर्यामी परमेश्वर है, उसे योगांगो के अनुष्ठान की सिद्धि के द्वारा तुम अपने अन्दर जानो।

परमेश्वर ने उपादान कारण प्रकृति और साधारण कारण आत्मा को उत्पन्न नहीं किया। ये तीनों–ईश्वर, आत्मा और प्रकृति अनादि हैं। जैसे शरीर धारी प्राणियों का अधिष्ठाता आत्मा है, वैसे ही सारे विश्वादि का उत्पादक परमात्मा है। जैसे इच्छारूपी कारण से, कर्ता किसी साधन से कोई कार्य करता रहता है वैसे ही परमेश्वर अपनी इच्छा रूपी सामर्थ्य से साधन रूपी प्रकृति में क्रिया उत्पन्न कर देता है। फिर उन्हीं की प्रेरणा अर्थात् बुद्धिपूर्वक नियम से सत्, रज, तम के परमाणु मिश्रण द्वारा पांच सूक्ष्म भूत बन जाते हैं। उसके पश्चात् उन भूतों के अनुसार पांच महाभूत (पंचतत्व) एवं उन्हीं सतोमय परमाणुओं से सूर्य तथा अन्य परमाणुओ के संघात से चन्द्रादि लोकों की उत्पत्ति हुई है। इसी प्रकार सर्वशक्तिमान परमेश्वर के महत् नियम द्वारा विभिन्न प्रकार के परमाणुओं के समूहों से ब्रह्माण्ड में तेज और निस्तेज वाले सारे लोक उत्पन्न हुए और हो रहे हैं। (ब्रह्माण्ड रचना की पहेली बड़ा ही विचित्र है। प्रकृति का ज्ञान परिवर्तनशील होने से, इन सबकी पूर्ण जानकारी नहीं हो सकती।)

ईश्वर है का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि प्रकृति के सारे कण जड़ हैं, वे स्वयं बुद्धिपूर्वक कुछ नहीं बन सकते। उनमें केवल ईश्वर प्रदत्त क्रिया होती है। उन्हीं की क्रियाशीलता से वैज्ञानिक जन उन कणों की शक्तियों को मशीनों द्वारा प्रयोग में लाकर 'कम्प्यूटर, मोबाइल आदि का निर्माण किये हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि वे कण स्वयं (बिना वैज्ञानिक के) दूरदर्शन, कम्प्यूटर आदि नहीं बने, उनसे बनाने गये हैं।

इसी प्रकार ज्ञान पूर्वक बिना परमात्मा और आत्मा के मानव शरीर में कर्मेन्दियाँ, ज्ञानेन्द्रियाँ और मस्तिष्क का निर्माण नहीं हुआ, बल्कि जब परमात्मा ने शरीर का डिजाइन बना दिया, तब आत्मा के संयोग से शरीर हरकत करने लगा और इन्द्रियों के माध्यम से ज्ञातृत्व, कर्तृत्व और भोक्तृत्व को प्राप्त करने लगा।

ऐसे ही आदि सृष्टि के प्रारम्भ में बिना माता–पिता के अमैथुनीकाल में प्राणियों में सर्वश्रेष्ठ मानव उत्पत्ति के पहले 'रज–वीर्य' जैसे अणुओं के बनने के लिये अनेक प्रकार के रासायनिक तत्वों का प्रयोजन हुआ, जिसे भूमि, जल, वायु तथा सूर्य के प्रकाश ने उत्पन्न किया। इस प्रकार हजारों वर्षों के पश्चात उनसे शरीर बनने वाले अणुओं का निर्माण भूमिमाता की कुक्षी में (जहाँ वृक्ष–वनस्पतियों के फल लगे हुए थे, और जिस समय कतिपय प्राणियों की उत्पत्ति हो गई थी) होने लगा और जब उनसे आत्माओं का संयोग हो गया तो उन झिल्लियों में भ्रूण उत्पन्न होने लगे।

वेद में इस विषय को बहुत संक्षित रूप में वर्णन किया गया है:–

'को ददर्श प्रथमं जायमानम स्थन्वन्तं मनस्थ विभर्ति।

भूभ्या असुरस्टगात्मा क्व स्वित्को विद्वांसमुपगात्प्रष्ट मेतत्।। (ऋग्वेद) जब सृष्टि के पहले ईश्वर ने सबके शरीर बनाये तब कोई जीव इनको देखने वाला न हुआ। जब उनमें जीवात्मा प्रवेश किये तब, प्राण आदि वायु ,रुधिर आदि धातु अैर जीव भी मिलकर देह को धारण करते हुए और चेष्टा करते हुए इत्यादि विषय को जानने वाला भी कोई विरला ही होता है सब नहीं।

तात्पर्य यह कि प्रारम्भ में मानव बनने वाले विशेष प्रकार के प्राणी सृष्टि के आदि में एक ही बार उत्पन्न हुए। मानव की उत्पत्ति किसी बन्दर या वनमानुष से नहीं हुई यदि उनसे हुई होती तो आज भी होती।

डार्विन का विकास वाद कहता है कि अमीबा से ही विकसित और परिवर्त्तन होकर सारे प्राणी उत्पन्न हुए और मानव भी, किन्तु आज का विज्ञान इसे नहीं मानता किन्तु आज भी उन विदेशी विचारों को हमारे विद्यार्थियों के सामने परोसा जा रहा है। यदि काई कहे कि (तृण) दुबड़ी घास से ही सारे जाति के वृक्ष पैदा हुए तो यह कभी नहीं हो सकता। जैसे समस्त जाति के वृक्षों की उत्पत्ति भिन्न बीजों से हुई है, वैसे ही सारे प्राणियों के पूर्वजों की उत्पत्ति के प्रकार (जाति, आयु, प्रसव और भोग के अनुसार भिन्न–भिन्न अयोनिज, जरायुज, अण्डज, स्वेदज और ऊष्मज से थी। वे किसी एक प्राणी से जैसे सूअर ने हाथी और छिपकली से कुम्भीर पैदा नहीं हुए।

हाँ तो हम कह रहे थे। कि यदि मानव शिशु रूप में पैदा होता तो उसे दूध कहाँ से मिलता, इसलिये सर्वप्रथम मानव उत्पादक गर्भ की झिल्लियों से विशेष प्रकार के प्राणी पशुरूप में पैदा हुए, और पैदा होते ही सरकने लगे। यदि वे पशुरूप में न होकर शिशुरूप मे जन्म लेते तो आँधी तूफान, शीत–गरमी, वृष्टि आदि से कैसे बच पाते। इसलिये मानव को सर्वप्रथम पशु आकार में जन्म लेना पड़ा। उसके पश्चात परिवर्तन द्वारा अंत में युवा और युवती के रूप में प्रकट हो गये। उसके पश्चात कतिपय लोग गुफाओं में रहने लगे और कुछ जो बुद्धिमान थे वे तिब्बत के आस–पास (अपनी जन्म भूमिक्षेत्र में) ऋषियों की तपोभूमि मानसरोवर में रहने लगे। उस समय उनमें स्वाभविक ज्ञान ही था। उनकी कोई भाषा नहीं थी, पर वे अन्य लोगों से समझदार थे। इसीलिये तो अपने अंगों को पेड़ के छाल और केले आदि के पत्तों से ढँक रक्खे थे। वे फलाहरी थे, परन्तु उनमें जो पूर्व पुष्य सत्कर्मों से पवित्रात्मा थे उनके में ईश्वरीय शक्तियों से ऐसी जागृति उत्पन्न हुई कि उन्हें तत्वों का ज्ञान ध्यानावस्था में प्राप्त होने लगा। अग्नि देव को ज्ञान का, वायु देव को कर्म का, आदित्य देव को उपासना का और अंगिरा देव को विज्ञान सूत्र वैदिक भाषा में प्राप्त होने लगाा। अतः यह आदि भाषा सर्वप्रथम उन्हीं दैव्य ऋषियों से उत्पन्न हुआ। उस समय वैदिक संस्कृति भाषा के अतिरिक्त दूसरी कोई भाषा नहीं थी। प्रश्न–यह कैसे संभव हो सकता है कि जिस विद्या को वे नहीं जानते थे, उन्हें कैसे जानने लगे? उत्तर– जिस समय स्वामी दयानन्द, गुरु विरजानन्द की कुटिया में अष्टाध्यायी आदि का पाठ अध्ययन कर रहे थे, उस समय दैवयोग से अष्टाध्यायी की कोई क्लिष्ट रचना, स्वामी जी को विस्मृत हो गई, बहुत प्रयत्न किये पर स्मरण नहीं हुआ। अं[illegible] में यमुना के तट पर जाकर ध्यान क[illegible] लगे, ध्यान करते समय उन पर योगनि[illegible] छा गई, उसी अवस्था में उन्हें ऐसा [illegible] कि अष्टाध्यायी का समस्त सूत्र उन्हें [illegible] बता रहा है। जब उनकी योगनिद्रा भंग हुइ तो अतिप्रसन्न होकर गुरुजी के चरणों में उपस्थित हो गये और सारे पाठ सुनादिए, गुरु जी पाठ को सुनकर अति प्रसन्न हो गये। इसी प्रकार जिनके ऊपर गायत्री की कृपा हो जाती है वे सत्य विद्या के धनी हो जाते हैं। इसी प्रकार उन आदि ऋषियों के माध्यम से वेद विद्या द्वारा मानव समाज नैमित्तिक ज्ञान को प्राप्त कर सके। यदि उन ऋषियो के माध्यम से वेद विद्या एव उनके ज्ञान द्वारा ईश्वर ने नैमित्तिक ज्ञान प्राप्त न करता, तो कोई भी सभ्य एवं ज्ञानोन्नति न कर पाता और न कोई मूल संस्कृत भाषा से अपनी भाषा बना पाता।

तात्पर्य यह कि वेदोत्पत्ति काल में ही उन दैव्य ऋषियों ने बह्मादि ऋषियों कों चारों वेदों का ज्ञान प्राप्त करा दिया। इस प्रकार ऋषि परम्पराओं में वेद श्रुति रूप में चलने लगा और जो–जो उन ऋषियों एवं वैदिक सिद्धातों के सम्पर्क में आते रहे वे सभ्य और ज्ञानी होते रहे और जो–जो उनके सम्पर्क में नहीं आये वे मूर्ख, जंगली और शिकारी बने रहे। इस प्रकार दो प्रकार का इतिहास सदा से चला आ रहा है। एक शुद्ध संहिता काल से लेकर आधुनिक आर्य विद्वानों का और दूसरा–रावण काल से लेकर अनार्य अत्याचारी लोगों का।

मु.पो.– मुरारई,
जिला – वीरभूम (प.बंगाल)
मो. 8158078011

Swami Dayanand Man, Message and Mission

● Dr. KapilaVatsyayan

Let me take this opportunity to say something at a more personallevelaboutthedeepimpact of Swami DayanandSaraswati's relentless and unceasing emphasis on returning to essence of the foundations of all that we understand by the general appellation 'Hindu'. Logical was his emphasis on not only returning to the Vedas as essence, but on translating the essence through action. The instrumentalities for this to him were education, first and last. Rigorous discipline and training were the key. Conduct, honest, moral and ethical action were the ultimate test. Thus, hypocrisy and double-talk were an anathema. Fearlessly and tirelessly he exposed 'hypocrisy' and outward form caged in outward 'dogma' and sectarian narrowness. He spared no one in asserting that hypocrisy of any form was the root of many social evils.

His journey from the first moment of departure from the home after the incident of the mice on the Shivalingam to the last in persuading Maharaja of Jodhpur, was of a zealous seeker and reformer. He had traversed the mountains, ascended the peaks of Badrinath, Kedarnath and Tunganath, had lived and conversed with all those who were considered the repositories of wisdom and all those others who considered themselves the custodians of the innumerable sects and cults. He interacted with the BrahmoSamaj leaders, MaharshiDebendranath Tagore and Keshab Chandra, met Ramakrishna Paramahansa, but he held his own to stress and declare that the perennial source was the Vedas in their pristine purity. The countless debates he held with the priests and pundits of several denominations in the face of fierce opposition and hostility, speak of the indefatigable courage and conviction and unshakable commitment of purpose. Re-reading the details of those debates (shastrarthas), one is struck by the fact that there was an incredible open space to publicly and openly debate differences of comprehension, and understanding, and thus practices of this broad and immeasurably diverse ocean, which is called 'Hinduism'.

His concern was to separate the chaff from the wheat, to extract from the textual sources a philosophy of life which would guide conduct and action.

As pointed out before, education and training were the principal agencies of this endeavour to reform the society of his times, and to nurture a new generation of Indians who would eschew 'caste' and sect and who would be intellectually empowered to reform.

The chapters in the SatyarthaPrakasha (translated as Light of Truth) on education are as revealing as they are meaningful today. Long before the Indian nation state spoke of free and compulsory education, Swamiji advocated the primacy of education. He advised that all children (girls and boys alike, and without distinction) must be sent to school and given a physical, mental and moral education.

Appropriately he begins the chapter, 'The upbringing of children' with a famous quotation from the SatapathaBrahamana, i.e .,'MatrimanamPitrimanAcharyav anPurusho Veda'['Verily that man alone can become a great scholar who has had the advantage of three good teachers, viz., mother, father and preceptor'].

Swamiji's emphasis on the care of the mother is as important as her role as the first teacher of the child in the matter of correct pronunciation, proper accent. While he lays emphasis on the learning of Sanskrit, he also recommends the learning of other languages. Throughout the two chapters dealing with the upbringing of children and education, Swamiji adopts a rational and broad-minded approach. He wants people to know the physical body and the working of the metabolism of the body and not be swept away by blind superstition, astrology and the rest. This advice coming at a time as it did, was a radical step to eradicate ignorance about physical health and primary education. For him parents who neglect the education of their children are his 'veritable enemies'. The highest duty of parents is to educate their children. Acquisition of knowledge and pursuant of truth and moral conduct are the goals of education. For him, all should be educated, sons and daughters of princes or beggars or those less affluent. He advocated an egalitarian school system. These were the nascent beginnings of what we understand by the term neighbourhood schools.

We know to our cost that unlike these goals, there is a wide gap between educational opportunities open to the rich and those for the poor. Translated in our terms, Swamiji was advocating the establishment of a system of neighbourhood schools, where all—from different socio-economic strata—would be given the same education. Alas, despite the success of the Gurukula system and that of the DAV schools, there is a wide disparity between the so-called elite schools and others, both in the public as also private sector.

Swamiji repeatedly reiterated that all should be treated alike, the rich and the poor'. We are far from achieving this 'goal' despite six decades of independence.

Swamiji further elucidates on the content of education and dwells at some length on the content, curricula and pedagogy of teaching and learning. He elaborates upon the system with great lucidity. He stresses the fact that education should develop the physical and mental abilities. Imbibing moral values based on the essential core of the Vedas was crucial.

In the end, in his characteristic manner, he admonishes all those who wish to prevent any section of society from acquiring knowledge. He unequivocally states: All men and women, i.e. the whole of mankind, have right to study and acquire knowledge. With great confidence he draws attention to the Vedas, particularly the Yajur Veda, to underscore the point that 'Brahmans, Kshatriyas, Vaishyas, Shudras, women, servants, lowest of the low can learn and preach the Vedas'.

'Let all therefore acquire knowledge, practice virtue, shun vices …'

Knowledge was not the privilege of any particular section of society, nor of gender.

He takes his argument to its logical conclusion. In answer to a question, he replies, if knowledge was not meant for all, then why did God create the organs of speech and hearing in their (Shudras and women) bodies? In short, Swamiji is both interpreting the Vedas and is also strongly advocating 'non-discrimination on the basis of varna, caste or gender.'

In order to impart a well-rounded education of the body and mind, he recommends that women/girls to be given a sound physical education. Besides physical exercise and the skills of defence and attack (gataka), Swamiji is of the opinion that women must acquire accounting, and skills of trade and knowledge of basic medicine. Besides, both mathematics and the arts should be given an equal weightage. Of course, the system must inculcate moral and ethical values. For him 'knowledge alone is the inexhaustible treasure, the more you spend it, the more it grows'. Education alone would transform the individual and reform society.

These assertions in the SatyarthaPrakasha were the inspiration for the system of the Gurukulas and the DAV school system. While the former established by Swami Shraddhananda provided a vertical education of one kind, speciallyGurukulaKangri, the DAV school system was broad-based, open to all castes and classes and gave an equal emphasis to the knowledge system of the Indian tradition as also acquaintance and command over English language and modern subjects. A balance was sought to be achieved. The role of the education systems inspired by the ideals of Swamiji and the institution started by him, AryaSamaj, played an important role in reforming Indian society. Many broke away from the shackles of narrow sectarianism, as also blind superstition and belief in mindless ritual for resolving problems of material life.

The spread of the message and the establishment of the institutions was swift, almost meteoric, specially in Northern India. In distant Kashmir and

शेष पृष्ठ 11 पर ☞

तेरा अमर तराना

हंसराज तू राजहंस है – तेरा अमर तराना।
तेरे त्याग बैराग को करता – शत–शत नमन जमाना।।

इदन्न मम् की वेद ऋचा को – जीवन लक्ष्य बनाना।
सत्य विद्याओं की शिक्षा देकर – अज्ञान, अन्धकार मिटाना।।

दयानन्द के वेद प्रचार को – तूने अमृत माना।
जन–जन की सेवा मेवा – वैदिक धर्म निभाना।।

तन–मन–धन का सत्य समर्पण – संसार को सुखी बनाना।
प्रगति पथ के अमर सेनानी – तेरा ऋणी जमाना।।

सदाचार और परोपकार के – वैदिक यज्ञ रचना।
धन्य मानते भारतवासी – ऐसा अवसर पाना।।

हंसराज कालेज में विद्या – पढ़ना और पढ़ाना।
कवि हृदय की सत्य प्रेरणा – देशभक्त बन जाना।।
हंसराज तू राजहंस है – तेरा अमर तराना।

हरवंश लाल कपूर
भूतपूर्व सह मंत्री
आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि
सभा की डायरी से

पत्र/कविता

यदि हिन्दी अपनी भाषा लिपि में सुधार नहीं करेगी तो...

दुनियाँ की सबसे बड़ी दूसरी भाषा–हिंदी की सर्वोत्तम लिपि–देवनागरी के जगह पर रोमन लिपि को लाने की आजकल चर्चा चल रही है। 18 से 28 फिर 22 और 26 वर्णों में घटती–बढ़ती रही दो–तीन तरह की लेटरों वाली जिन रोमन लिपि को अपने अवैज्ञानिक अंकों – I, II, III, IV, V, VI, VII, VIII, IX, X को छोड़कर हमारे भारतीय अंकों – 1, 2, 3, 4, 5, 6, 7, 8, 9, 10 को स्वीकार करना पड़ा, उस रोमन लिपि में हिंदी–सी स्वस्थ–समृद्ध भाषा को लिखे जाने की वकालत करने वालो भारोपीय विद्वानों पर ताज्जुब होता है।

दुनियाँ की सर्वश्रेष्ठ लिपि होकर भी हमारी देवनागरी लिपि में उतना दोष नहीं है जितना कि इसके अंधभक्तों का यह अहंकार कि इस लिपि में कुछ भी परिवर्तन–परिवर्धन करने की जरुरत नहीं है।

जिसको जिससे प्रेम होता है, उसकी खामियाँ उसे नहीं दिखतीं या फिर खामी भी खूबी लगने लगती है। उसी तरह कंम्प्यूटर लिये अंतरिक्ष–युग की ओर बड़ी तेज़ी से बढ़ते जा रहे इस वैश्विक–बाज़ार में हम यदि दुराग्रहवश अपनी भाषा–लिपी को और अधिक उन्नत न कर सकें तो निनन्देह ब्रिटिश–साम्राज्यवाद के बल पर दुनियाँ में थोपी गयी रोमन लिपि इस बार भी हमारी हिंदी को हरा देगी।

हिंदी के बाद भारत की वैकल्पिक राष्ट्रभाषा बनने की योग्यता रखने वाली संस्कृत अपने संधियुक्त लंबे–लंबे जटिल शब्दों एवं कठिन व्याकरणों के कारण ही आज उपेक्षित बनी हुई है। यदि हिंदी भी अहंकारवश अपनी भाषा और लिपि में सुधार नहीं करेगी तो लंगड़ी होकर भी 'अंग्रेज़ी' भारत की रानी बन इसे पूर्णतः मिटा देगी। निर्दयी रोमन लिपि दयामयी हिंदी को दासी बन कर भी कहीं रहने नहीं देगी।

अतः आज काम चलाऊ भावना से ही सही, किंतु हिंदी को रोमन में लिखा जाना– हिंदी के भविष्य के लिये घोर चिंतनीय है।

कंम्प्यूटर के कंम्प्यूटर न कह कर संगणक एवं मोबाइल को चलभाष या कर्णवार्ता कह कर ऐसे अंतर्राष्ट्रीय शब्दों को हिंदी में पचाने से जो इंकार करते हैं, ऐसे ही अंधभक्त वाक्वीरों सें हिंदी को खतरा है।

जिस तरह कुछ दोषयुक्त होकर भी आज ग्रैगरी कैलेंडर का कोई विकल्प नहीं है उसी तरह विकल्प मुक्त, तथाकथित अंग्रेजी के अंक को देहाती हिंदी के अंकों– १, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९, १० में लिखना एवं उसे विदेशी मानना हमारी मधर्मिता है। अंग्रेज़ी के आधुनिक अंक नवों के नवों पूर्णतः भारतीय हैं। बंग्ला का चार ही अंग्रेज़ी में आठ लिखा जाता है। भारत से अरब होते हुए यूरोप में जाकर हमारा ही परिष्कृत अंक अंग्रेज़ी का अंतर्राष्ट्रीय अंक कहला रहा है। अतः अब सभी भारतीय भाषाओं को भी अपने पुराने विद्रूप अंको को छोड़ कर सुंदर–सुडौल इसी अंक को सगर्व अपनाकर सम्मानित करना चाहिये। जैसे हम भारत की अंतरिक्ष–कन्या कल्पना चावला पर गर्व करते हैं।

हिंदी सहित दुनियाँ के भाषा–शास्त्रियो को चाहिये कि विश्व मानवोत्थान हेतु लिपियों को घमासान को मिटाने में दुराग्रह न रखे। कम से कम हमारी भारतीय भाषाओं की एक सर्व सम्मिलित लिपि तो ही जानी चाहिये।

आर्य प्रहलाद गिरि
निंगा, आसनसोल (प.ब.)
मो. 9735132360
दिनांक – 21.2.2015

****

जगत् के कणकण में विद्यमान है परमात्मा

आर्यसमाज के सजग उदीयमान लेखक बन्धु भावेश मेरजा ने युक्ति प्रमाण से श्री स्वामी सौम्यानन्द जी महाराज को यह समझाने का प्रयत्न किया कि जगत् के कण कण में ईश्वर विद्यमान है। श्री स्वामी जी को न जाने कैसे आर्यसमाज के मूलभूत सिद्धान्त के विपरीत यह (अ) ज्ञान हो गया कि मूर्त्ति में परमात्मा नहीं है। इस सन्दर्भ में यहां दो शब्द श्री स्वामीजी की सेवा में निवेदित कर रहा हूँ–

(1) सर्वव्यापक का अर्थ क्या है? क्या स्वामी जी के अनुसार "सर्वव्यापक =मूर्ति को छोड़कर सब जगह परमात्मा है।" यह है

(2) मूर्ति पत्थर से काटकर बनती है। क्या हिमालय, विंध्याचल इत्यादि में परमात्मा नहीं है?

(3) ब्रह्मर्षि श्री पाद दामोदर सातवलेकर के भाष्य के कतिपय मन्त्र देकर आशा करता हूँ कि श्री स्वामी सौम्यानन्द जी आर्यसमाज के वैदिक विद्वानों का साहित्य पढ़ेंगे।

गर्भो यो अपां गर्भो वनानां गर्भश्च स्थातां गर्भश्चरथाम् ।
अद्रौ चिदस्मा अन्तर्दुरोणे विशां न विश्वो अमृता स्वाधी :॥ ऋ १.७०.२

अर्थ–जल, थल, स्थावर जंगम, वन, पर्वत आदिकों के अन्दर व्याप्त अमर परमात्मा अपनी शक्ति से रहता है। जिस प्रकार प्रजाओं का निवासक राजा होता है उसी प्रकार सबका निवासक यह है। इसलिए सबको इस की पूजा करने योग्य है।

सविता पश्चातात् सविता पुरस्तात् सवितोत्तरातात्सविताधरात्तात्।
सविता नः सुवतु सर्वतातिं सविता नो रासतां दीधमायुः॥ ऋ १०.३६.१४

अर्थ–कोई स्थान, कोई दिशा ऐसी नहीं जहाँ परमेश्वर न हो।

यत् परममवमं यच्च मध्यमं प्रजापतिः ससृजे विश्वरूपम्।
कियता स्कम्भः प्र विवेश तत्र यन्न प्राविशत् कियत् तद् बभूव।। अ. १०।७।८

अर्थ– सृष्टि बनने के पश्चात सृष्टि के कितने अंश में आत्मा का "अनुप्रवेश" हुआ है और क्या ऐसा कोई अंश अवशिष्ट है कि जहाँ वह प्रविष्ट नहीं है? **"तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्"** इस उपनिषद् वचन का आधारभूत यह मंत्र है। इस मंत्र के प्रश्न का उत्तर 'उस आत्मा से रिक्त कोई भी सृष्टि का अंश नहीं है, यही है।'

यद्यपि परमात्मा की सर्वव्यापकता के प्रचुर मन्त्र मेरे सामने हैं तथापि आशा है इन मन्त्रों से ही श्री स्वामी सौम्यानन्दजी महाराज का समाधान हो जाएगा।

जगदेव सिंह ठाकुर
28, मनोरमा सदन, डॉ चरत सिंह कॉलनी
कुर्ला रोड, अन्धेरी पूर्व, मुम्बई–40018

****

चुनाव समाचार

आर्य समाज बीसलपुर, जिला पीलीभीत, उत्तर प्रदेश

प्रधान	श्री राजेन्द्र प्रसाद मिश्रा
मन्त्री	श्री भूपराम आर्य
कोषाध्यत्र	श्री मोहन स्वरूप गंगवार

☞ पृष्ठ 09 का शेष

Swami Dayanand....

throughout Punjab emerged, as if overnight, schools for girls without pardah. There was no discrimination on account of caste, social status. Indeed, many followers of AryaSamaj gave up using their last names so as not to reveal their 'caste' affiliation. Generic endings, such as 'Kumar', etc. began to be used. Today we have to re-evaluate this movement when 'caste' and religious sectarian affiliations are entering the entrails of our political systems.

Has there then been an increase in re-establishing non-productive social hierarchy on the basis of birth or caste? This has certainly weakened the social fabric, and has impacted negatively on the efficient working of a democratic system of governance.

Gender is understandably a much discussed, debated issue, is also cause of distress and disturbance. Swamiji not only wanted girls to be educated and given equal opportunities, but he went further, and rightly so, in denouncing child marriage. He also challenged the taboo of widow remarriage. In short, he wanted women to have the same rights, privileges as men.

Thus the issues which Swamiji brought to the fore and fought for are still with us, despite the many changes that have taken place in the century and quarter after he passed away. We are nowhere near achieving the goal of free and compulsory education at the primary and elementary level, 'caste' in its negative incarnation as a basis of mobilizing votes in a democracy has become visible and gender inequalities in forms uglier than before are before us. Can we restore balance and health again? The intellectuals, spiritual leaders of India were social reformers, their thoughts and actions were in accord. Can we emulate them to shape the India which will be as deeply rooted, as broadly 'inclusive' and as firm in its foundational core values, as open to discussion and debate with the precepts and values of others?

इन्द्रियनिग्रह (धर्ममिन्द्रियनिग्रहः)

● भद्रसेन

मनुस्मृति में धर्म के दश लक्षण (पहचानें) बताए हैं। जिनमें धृति–क्षमा–दम–अस्तेय–और शौच के पश्चात् इन्द्रिय निग्रह का क्रम है।

इन्द्रिय शब्द– आंख, कान आदि के लिए आता है, कार्य के भेद से ये दो प्रकार की हैं। जो ज्ञान के बोध, अनुभव में सहायक होती हैं, उन को ज्ञान–इन्द्रिय और जो भौतिक कर्म में साधन बनती हैं, उनको कर्म–इन्द्रिय कहते हैं। आंख, कान, त्वचा, रसना और नासिका ये पांच ज्ञानेन्द्रियां हैं, इन से रूप, शब्द, स्पर्श, रस, गन्ध का क्रमशः बोध होता है। जैसे कि नेत्र किसी के आकार और रंग का ज्ञान कराते हैं, कर्ण से शब्द का, त्वचा से शीत–उष्ण, कठोर–नरम के स्पर्श का, रसना=जिह्वा से कटु, मधु आदि छः रसों का और नासिका से सुगंध–दुर्गन्ध का ज्ञान होता है। हाथ, पैर, वाणी, पायु, उपस्थ कर्मेन्द्रियां कहलाती हैं, हाथ, से हम किसी को पकड़ या छोड़कर कोई कर्म करते हैं। पैरों से आने–जाने का, वाणी से बोलने का और पायु–उपस्थ से मल–मूत्र त्याग आदि का कर्म होता है।

इन्द्रिय शब्द यह दर्शाता है कि इन्द्र=आत्मा का वाचक है। अतः इन्द्र=आत्मा की जो पहचान, शक्ति, सहायक, साधन है, वह ही इन्द्रिय है।

इन्द्रियं इन्द्रं लिगंमिन्द्र द्वष्टमिन्द्र सृष्टमिन्द्र जुष्टमिन्द्र–पाणिनि 5,2,93।

इन्द्र आत्मा स चक्षुरादिना करणेनानुमीयते, नाकर्तृकं करणमस्ति–काशिका

अर्थात आंख आदि इन्द्रियां जीवात्मा के लिए देखने आदि में सहायक, औजार बनती हैं। इन इन्द्रियों को काबू करना, नियन्त्रण में रखना ही इन्द्रियनिग्रह है। जैसे एक तांगे का घोड़ा या यान का नियन्त्रण (ब्रेक) जब तक काबू में रहता है, तब तक यात्रा तथा मंजिल पर पहुंचना सरल होता है, अन्यथा जो विनाश होता है, उसकी अनेक घटनायें आए दिन सामने आती रहती हैं।

हां, इन इन्द्रियों को अपने रूप, शब्द आदि विषयों से रोकना ही इन्द्रियनिग्रह है। क्योंकि इन्द्रियों के विषय अपने आकर्षण से व्यक्ति को अपनी ओर आकर्षित कर लेते हैं।

कुरंग मातंग पतंग भृंगा मीना हताः पञ्चभिरेव पञ्च।
एकः प्रमादी स कथं न वध्यो यः सेवते पञ्चभिरेव पञ्च।। लघुचाणक्य 8,8
पञ्चेन्द्रिस्य मर्त्यस्य छिद्रं चेदेकमिन्द्रियम्।
ततोऽस्य स्रवति प्रज्ञा द्वतेः पात्रादिवोदकम्।।
विदुर नीति 1,82

जैसे हिरन, हाथी, पतंगा, भौंरा और मछली अपनी एक–एक इन्द्रिय के आकर्षण में आकर मारी जाती हैं। हां उसका क्या हाल होगा, जो पांचों में से यदि एक भी इन्द्रियों को बेकाबू किए हुए रहता है। मनुष्य की पांचों इन्द्रियों बेकाबू हो जाए, तो ऐसे व्यक्ति का सारा ज्ञान, यश नष्ट हो जाता है। जैसे पात्र में एक भी छिद्र हो जाने पर उसका जल आदि उसमें से निकल जाता है[2]।

इन्द्रियों के अनुसार चलने से अर्थात् इन्द्रियों को अपने काबू में न रखने से व्यक्ति अपने लक्ष्य से भ्रष्ट हो जाता है। किसी व्यक्ति की सफलता में इन्द्रियनिग्रह एक विशेष सहायक बात है।

अतः अपनी इन इन्द्रियों को बेलगाम की तरह इधर–उधर दौड़ने न दे, अपितु अपनी इच्छा के अनुसार अपने व्यवहार में लगाए अर्थात सोच–विचार पूर्वक अपनी इन्द्रियों से काम ले।

हमारी ये इन्द्रियां काम, क्रोध, लोभ आदि के कारण अपने–अपने विषयों की ओर दौड़ती हैं। आचार्य चाणक्य ने अपने कौटिल्य–अर्थशास्त्र में इतिहास से रावण, दुर्योधन आदि के उदाहरण देकर बताया है, कि काम आदि की अमर्यादा के कारण ये ये पतित हुए। 4– कौटिल्य अर्थशास्त्र के विनयाधिकार के पहले का 6 प्रकरण चाणक्य नीतिशास्त्र (72) हां, हर विद्या, सदाचार और सफलता प्राप्त करने की इच्छा रखने वाले को सदा इन्द्रियों को अपने वश में रखना चाहिए, क्योंकि विद्या, विनय का मूलमन्त्र इन्द्रियजय ही है। विद्याविनयहेतुरिन्द्रियजपः कामक्रोध ालोभमानमदहर्षत्यागात्कार्यः। 1,6। अतः विद्या, सदाचार और सफलता की प्राप्ति का मूलमन्त्र–इन्द्रियों को जीतना ही है।

(सः पुरुषो यः खिद्यते नेन्द्रियैः (128, हित.–2) वही सफल पुरुष है, जो इन्द्रियों का उपयोग करते हुए भी इन के द्वारा नचाया नहीं जाता। किमात्मना यो न जितेन्द्रियो भवेत् (9, हित.–2) गृहेऽपि पंचेन्द्रियनिग्रहं तपः (86, हित.–संधि) तपः सारइन्द्रिय निग्रहःचाणक्य शास्त्र)

अनिग्रहच्चेन्द्रियाणां नरः पतनमृच्छति।
याज्ञवल्वयस्मृति 3,19
अनिग्रहेन चाक्षाणां जायते व्यसनं नृणां–काव्यालंकार
अपदां कथितः पन्था इन्द्रियाणामसयंमः। तज्जयः सम्पदां मार्गो येनेष्टं तेन गम्यताम्

182, शालीमार नगर
होशियारपुर–146001

डी.ए.वी. सी.सै. नारायणगढ़ ने महात्मा हंसराज जी को स्मरण किया

डी.ए.वी. सी. सै. पब्लिक स्कूल नारायणगढ़ में तपोनिष्ठ महात्मा हंसराज जी को श्रद्धाभाव से स्मरण किया गया। प्रधानाचार्या श्री मती मीनाक्षी डोगरा जी की अध्यक्षता में आयोजित इस समारोह में बच्चों ने भाषण व भजनों के माध्यम से महात्मा जी को याद किया। प्रधानाचार्या महोदया ने अपने संबोधन में महात्मा हंसराज के त्याग और तपस्या से परिपूर्ण जीवन का परिचय दिया। उन्होंने स्टाफ सदस्यों व बच्चों को महात्मा जी से प्रेरणा लेकर उनके द्वारा बताए गए रास्ते पर चलने का संकल्प दिलाया इस अवसर पर भाषण व भजन प्रस्तुत करने वाले छात्रों को सम्मानित किया गया। विद्यालय की ओर से सभी बच्चों को स्वामी दयानंद जी के चित्र वाला डी.ए.वी. का वार्षिक कलैंडर वितरित किया गया तथा कार्यक्रम का समापन शांति पाठ से किया गया।

Delhi Postal R. No. D.L. (ND)-11/6066/2015-17
अग्रिम अदायगी के बिना भेजने का लाइसेंस नं. U(C)-103/2015-17
Posted at N.D.P.S.O. ON 15-16/7/2015
रजिस्ट्रेशन नं. आर० एन० आई० 39/57

आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा मंदिर मार्ग के लिए **एस.के शर्मा** द्वारा प्रकाशित एवं मुद्रित **अरावली प्रिंटर्स एण्ड पब्लिशर्स (प्रा.) लि.**, डब्ल्यू–30, ओखला, फेस–II, नई दिल्ली–110020 (दूरभाष : 26388830–32) से मुद्रित एवं कार्यालय **'आर्य जगत्'** आर्यसमाज भवन मंदिर मार्ग नई दिल्ली से प्रकाशित मो.–9868894601, 23362110, 23360059 सम्पादक – **पूनम सूरी**